उपनिषद्

प्राचीन कथाएं



प्रकाशन विभाग





उपनिषद्
प्राचीन कथायें

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार



प्रथम संस्करण : ज्येष्ठ 1903 : जून, 1981

मूल्य : रु० 7.50 पैसे

निदेशक; प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली—110001 द्वारा प्रकाशित ।

विक्रय केन्द्र — प्रकाशन विभाग

सुपर बाजार (दूसरी मंजिल) कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110001

कामर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालार्ड पायर, बम्बई-400038

8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता-700001

एल० एस० ए० आडीटोरियम, 736 अन्नासलै, मद्रास-600002

बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना—800004

निकट गवर्नमैन्ट प्रेस, प्रेस रोड, त्रिवेन्द्रम —695001

10 बी० स्टेशन रोड़ लखनऊ,—226004

प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, शिमला द्वारा मुद्रित

दो शब्द

उपनिषदों की कहानियां भारत की प्राचीन धरोहर हैं। इनमें हमारे पुरातन इतिहास, संस्कृति और कला की रंग-बिरंगी झलक मिलती है। बच्चों और बड़ों के लिए भी ये कहानियां काफी रुचिकर सिद्ध होंगी और आधुनिक कहानियों अथवा लोक-कथाओं से हटकर एक अनोखा आनन्द देंगी।

इससे पूर्व भी प्रकाशन विभाग ने पुराण और उपनिषदों से संबंधित रोचक कथाएं निकाली हैं जो काफी लोकप्रिय सिद्ध हुई और उनके कई संस्करण प्रकाशित किए गए। प्रस्तुत पुस्तक में एक ओर जहां इस विषय के विद्वानों ने अपनी प्रबुद्ध लेखनी का परिचय दिया है, वहां दूसरी ओर आत्मकथ्य शैली में श्रीमती मृदुला सिन्हा ने आज की नई पीढ़ी को प्रेरक सामग्री प्रदान की है।

—श्यामसिंह शशि



अनुक्रम

प्रथम खंड

द्वितीय खंड

प्रथम खंड



चाक्रायण का धर्मसंकट

क्षितीश वेदालंकार

एक वार टिड्डी दल के प्रकोप से सारी फसल मारी गई और देश में दूर-दूर तक दुर्भिक्ष फैल गया। लोग घर-वार छोड़ कर भोजन की तलाश में भटकने लगे। महर्षि उषस्ति चाक्रायण भी अपना घर-बार छोड़कर अपनी पत्नी के साथ भिक्षा मांगने निकल पड़े।

एक दिन भिक्षा के लिए भटकते-भटकते वे महावतों के किसी गांव में पहुंचे। वहां एक महावत बैठा हुआ उड़द की दाल की खिचड़ी खा रहा था। उषस्ति चाक्रायण ने उसके पास जाकर कहा – "भूखा हूं, भिक्षा दो।"

महावत बोला – "भगवन्! यह जो खिचड़ी मैं खा रहा हूं, मरे पास देने के लिए इसके सिवाय और कुछ नहीं है।"

उषस्ति बोले – "तो इस खिचड़ी में से ही थोड़ी भिक्षा मुझे दे दो।"

तव महावत ने अपनी जूठी खिचड़ी में से ही भिक्षा के रूप में थोड़ी-सी खिचड़ी उषस्ति को दे दी।

फिर महावत बोला – "लो, यह पानी भी ले लो।"

उत्तर में उषस्ति ने कहा – "यह मैं नहीं लूंगा, क्योंकि यह तुम्हारा जूठा है।"

यह सुनकर महावत को वड़ी हैरानी हुई। उसने ताना देते हुए कहा– "क्या यह खिचड़ी मेरी जूठी नहीं है?"

उषस्ति ने उत्तर दिया, "बेशक यह खिचड़ी तुम्हारी जूठी है। परन्तु भोजन के लिए कोई दूसरा यथार्थ इस समय सुलभ नहीं है। इधर भूख के कारण मेरे प्राणों पर आ वनी थी। अतः जीवन रक्षा के लिए मैंने यह जूठी खिचड़ी ग्रहण कर ली है। परन्तु पीने के लिए शुद्ध जल का अभी कोई संकट नहीं है। इसलिए जूठा पानी लेने की मुझे कोई विवशता नहीं है।"

उषस्ति ने कुछ खिचड़ी स्वयं खा ली और वाकी ले जाकर पत्नी को दे दी। उधर पत्नी को भी किसी ने थोड़ा-सा अन्न दे दिया था जिसे खाकर उसने अपनी भूख बुझा ली थी। अतः वह खिचड़ी उसने संभाल कर रख छोड़ी।

दूसरे दिन महर्षि उषस्ति को समाचार मिला कि एक निकटवर्ती राजा ने एक विशाल यज्ञ का अनुष्ठान रचा है। उषस्ति ने अपनी पत्नी को भी यह समाचार सुनाया और उससे कहा कि यदि मैं किसी तरह ठीक समय पर वहां पहुंच जाऊं तो मुझे विश्वास है कि राजा मुझे भी यज्ञ-कार्य में शामिल कर लेगा और मुझे अच्छी दक्षिणा भी मिल जाएगी। परन्तु रास्ते में खाने के लिए कुछ मिले, तभी मैं वहां तक पहुंच सकता हूं। भूखे तो मुझ से सफर भी नहीं होगा।



पत्नी बोली – "भगवन् ! कल की आपकी लाई हुई खिचड़ी सुरक्षित रखी है । उससे आप अपनी भूख शान्त कर सकते हैं । "

उषस्ति ने वह खिचड़ी ली और राजा के यज्ञ में शामिल होने के लिए चल पड़ा ।

वहां जाकर उसने देखा कि यज्ञ-मंडप बन चुका है । यजमान और पुरोहित तथा अन्य कार्यकर्ता पहुंच चुके हैं और यज्ञ की सारी तैयारी पूरी हो चुकी है

उषस्ति ने यज्ञ के ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु और उद्गाता सबको बारी-बारी से लक्ष्य करके कहा कि यदि तुम लोगों ने यज्ञ के विधि-विधान में कहीं कोई त्रुटि कर दी, तो कहीं भी मुंह दिखाने के लायक नहीं रहोगे ।

उषस्ति की बातों को सुनकर वे सब डर गए और एक तरफ चुप होकर बैठ गए ।

तब राजा ने उषस्ति से कहा – "श्रीमन् ! मैं आपका परिचय प्राप्त करना चाहता हूं । "

उषस्ति ने उत्तर दिया – "राजन् ! मैं उषस्ति चाक्रायण हूं । "

यह सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और बोला – "भगवन् ! इस यज्ञ के लिए मैंने आपकी बहुत खोज कराई थी, पर आपका कहीं कुछ पता नहीं लगा । जब आप नहीं मिले, तभी अन्य पंडितों को यज्ञ के लिये आमंत्रित किया । यह मेरा सौभाग्य है कि आप ठीक समय पर पधार गए । आपसे मेरी प्रार्थना है कि अब आप ही इस यज्ञ के समस्त कार्य-कलाप का संचालन कीजिए ।

उषस्ति ने कहा– "राजन् ! यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है, तो मैं भी इसके लिए तैयार हूं । पर मेरी एक शर्त है । वह शर्त यह है कि कुल जितनी दक्षिणा आप इन सब पंडितों को देंगे, उतनी ही दक्षिणा मुझे अकेले को देनी होगी । ये सब पंडित मेरे सहायक के रूप में कार्य करेंगे । "

राजा ने यह शर्त स्वीकार कर ली ।

उषस्ति चाक्रायण ने यज्ञ के समस्त कार्य-कलाप का संचालन किया और निश्चित समय पर यज्ञ विधि-विधान सहित पूरा हो गया । अन्त में महर्षि उषस्ति चाक्रायण ने राजा को आशीर्वाद दिया और अन्य पंडितों को भी स्नेहपूर्वक उनकी भूलों से अवगत कराया ।

छान्दोग्य उपनिषद् की इस कथा में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि संकट की घड़ी में मनुष्य को क्या करना चाहिए ।

दुर्भिक्ष के कारण उषस्ति को अपना घर-बार छोड़ना पड़ा, भिक्षा मांग कर गुजारा करना पड़ा, द्वार-द्वार भटकना पड़ा और विवश होकर अन्त में एक दिन जूठी खिचड़ी के लिए भी हाथ फैलाना पड़ा । परन्तु उसने जूठा पानी लेने से इन्कार कर दिया अर्थात जीवन-रक्षा के लिए आपद्धर्म के रूप में उसने जूठी खिचड़ी तो खाली, पर इतना विवेक उसमें अवश्य रहा कि अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए उसने जूठा पानी स्वीकार नहीं किया क्योंकि पानी का अकाल नहीं था ।

यज्ञ में दक्षिणा के लिए पूर्वाग्रह भी उसी स्वाभिमान की निशानी है । विपत्ति में पड़ कर भी जो मनुष्य अपनी योग्यता और विद्या को प्रकट नहीं कर सकता वह भुखा ही मरता है । समय पर अपने व्यक्तित्व को उजागर करने से ही व्यक्ति सम्मान के साथ रोटी कमा सकता है, अन्यथा ऊंचे आदर्शों का भी पालन नहीं हो सकता । संकट के समय आपद्धर्म का पालन करके जीवन-रक्षा उचित है, परन्तु आपद्धर्म केवल संकट-काल के लिए है, सामान्य स्थितियों के लिए नहीं ।

80-M/J(N)358 M of I & B—2

बालक मार्कण्डेय

श्रीमती कमला रत्नम्

बहुत दिनों की बात है। हमारे देश में मृकण्डु और मरुद्वाति नाम के पति-पत्नी रहते थे। हिमालय पर्वत के उत्तरी भाग में हरे-भरे पेड़ों और पर्वतों से घिरे अपने छोटे से आश्रम में वे बड़ी श्रद्धा और भक्ति से शिवजी की पूजा किया करते थे। मृकण्डु बड़े सवेरे उठ कर पास बहते स्वच्छ झरने में स्नान करते तथा सुविकसित, सुगंधित पुष्पों को चुन कर आश्रम में ले आते। जहां बड़े प्रेम से मरुद्वाति उन फूलों की माला बनाती। स्वच्छ चमकते पात्र में आश्रम की गाय का दूध दुहती। फिर वह शिवजी की पूजा करने बैठ जाती। उन्हें दूध से नहलाती, मंत्र पढ़ती और श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर माला भेंट करती।

इस प्रकार रहते और शिवजी की आराधना करते बहुत समय बीत गया। मृकण्डु और मरुद्वाति की आयु बढ़ने लगी, परन्तु उन्हें पुत्र का मुख देखना नसीब न हुआ। वे चिन्ता करने लगे, बुढ़ापे में हमारी देखभाल कौन करेगा? देवताओं की पूजा कौन करेगा? आश्रम की रक्षा कौन करेगा? क्योंकि उस जमाने में जमीन जोत कर अन्न उपजाने को पृथ्वी की पूजा करना कहते थे। आकाश, वायु, अग्नि और जल, प्रकृति के इन वरदानों का उनके नियमों के अनुसार प्रयोग करना ही उस समय में इनकी पूजा करना समझा जाता था; और सारे विश्व की कल्याण कामना ही शिवजी की पूजा थी। सब लोग मिल कर एक ही समय में विश्व के कल्याण की कामना करें, संसार की सहायता के कामों में लग जाएं, इसीलिए शिवजी के व्यक्तित्व की कल्पना की गई थी क्योंकि शिवजी का ध्यान करते ही लोगों का ध्यान उनकी कल्याणकारी प्रवृत्ति पर केन्द्रित हो जाता है।

अन्त में हताश होकर दोनों पति-पत्नी एक दिन शिवजी का ध्यान करते हुए आश्रम के निकट बैठ गए और बोले, "भोलानाथ! अब हम यहां से नहीं उठेंगे जब तक तुम हमारी इच्छा पूरी नहीं करोगे।" बैठे-बैठे उन्हें बहुत समय बीत गया, परन्तु उनका दृढ़संकल्प नहीं टूटा। उनका विश्वास था कि हो न हो एक दिन शिवजी जरूर उनकी प्रार्थना सुनेंगे और उनकी इच्छा पूरी होगी। क्योंकि उन दिनों अपनी हठ मनवाने, अपना संकल्प पूरा कराने का एक ही तरीका था, तपस्या, जोकि आजकल के उपद्रव, हड़ताल और तोड़-फोड़ करने से कहीं अच्छा था। आखिरकार शिवजी ने उनकी प्रार्थना सुन ली; उनकी तपस्या के आगे उन्हें हार माननी पड़ी। एक दिन बड़े सवेरे जब नित्यकर्म से निवृत्त होकर पति-पत्नी ध्यानमग्न बैठे थे, तो अचानक शिवजी प्रकट हुए। भस्मांकित मुस्कराता चेहरा, नीला कण्ठ, माथे पर तीसरा नेत्र, हाथ में त्रिशूल, गले में सांपों की माला, सब कुछ ठीक-ठाक था। बोले। "मांगो, क्या मांगते हो"। "भगवन्, हमें पुत्र की प्राप्ति हो" वे बोले। "अच्छा यह बात है" शिवजी ने हंसकर उत्तर दिया, "कहो कैसा पुत्र चाहिए? गुणी परन्तु कम आयु वाला अथवा निर्गुण और बहुत दिन जीने वाला?" मरुद्वाति ने पति की ओर देखा, फिर कहा, "भगवन्, हमें गुणवान पुत्र चाहिए, चाहे वह कम दिनों तक ही जीवित रहे।" 'एवमस्तु' कहकर शिवजी मेघ-मंडल में बिजली के समान अन्तर्धान हो गए।

ठीक समय पर मृकण्डु दम्पति के यहां पुत्र उत्पन्न हुआ। नाम रखा गया मार्कण्डेय। ठीक ही है, मृकण्डु का पुत्र मार्कण्डेय ही तो कहलाएगा। मार्कण्डेय अभी पांच वर्ष का ही था कि उसके पिता ने उसे शिक्षा देना शुरू किया--"बेटा हमेशा सच बोलना, प्रकृति के जीवों से मेल-मिलाप से रहना, उन्हें विना कारण कष्ट मत पहुंचाना, कर्त्तव्य पथ से कभी न हटना। भगवान् शिव की कृपा से हमने तुम्हें पाया है। उनके कहने के अनुसार तुम्हारी आयु अधिक नहीं होगी। परन्तु यदि तुम परिश्रम करोगे तो सब गुण तुम में वास करेंगे।" माता मरुद्वाति भी नित्यप्रति पुत्र को आश्रमसेवा का कार्य सिखाती, पेड़ पौधों की देखभाल, पृथ्वी से अन्न का उत्पादन, भोजन तैयार करने की कला, आश्रम की सुरक्षा, फिर शिवजी की पूजा जो सर्वोपरि थी। सभी कामों में मार्कण्डेय अपनी माता के साथ रहता, उससे सीखता, उसकी सहायता करता।

जब वह बारह वर्ष का हुआ तो माता-पिता से आज्ञा लेकर दक्षिण दिशा की ओर चल पड़ा। उसकी तीव्र इच्छा थी कि वह ऋषि अगस्त्य को खोजकर उनसे विद्या प्राप्त करे। उन दिनों दक्षिण में अगस्त्य का बहुत नाम था। दूर-दूर से लोग आकर उनसे ज्ञान प्राप्त कर रहे थे। सुना जाता था कि वे पशु-पक्षियों, भालू-बन्दरों को भी पढ़ना-लिखना सिखा देते थे। दक्षिण पहुंच कर मार्कण्डेय ने सबसे पहले एक सुन्दर नीले रंग का पत्थर ढूंढा और बड़े प्रेम-परिश्रम से उसे चिकना बनाकर शिवलिंग स्थापित किया। फिर वह प्रतिदिन नियमपूर्वक शिवजी की पूजा करने लगा। शिवमन्दिर की सफाई, दूध और बेल के पत्तों को लाना, मन्दार के पुष्पों, बीजों को ढूंढना, उनकी मालां बनाना, फिर स्नान कर सब कुछ शिवजी को अर्पित कर देना, अपने को भी। यह उसका नित्यकर्म बन गया। वह अगस्त्य मुनि की पाठशाला में भी जाता और वहां भी मन लगा कर अपना काम करता। देश-विदेश से आए हुए विद्यार्थियों के बीच उसका बड़ा मन लगता।

एक बार सप्तर्षि यात्रा करते हुए दक्षिण की ओर आ निकले। मार्कण्डेय ने बड़ी श्रद्धा और भक्ति से सप्तर्षियों की सेवा की। मरीचि, अत्रि, अंगिरस्, पुलस्त्य, पुलह, ऋतु और वसिष्ठ ये सातों ऋषि उसकी सेवा से बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कुछ दिन दक्षिण में ही रहने का निश्चय किया, यद्यपि उनका स्थायी निवास आकाश के उत्तरी भाग में मानसरोवर के ठीक ऊपर ध्रुव तारे के पास है। अन्त में वह दिन आ गया जब सप्तर्षियों को वापस लौटना था। एक-एक कर सातों ऋषियों ने मार्कण्डेय को आशीर्वाद दिया। परन्तु जब सब से अन्त में गुरु वसिष्ठ के मुंह से 'पुत्र दीर्घायु हो' ये शब्द निकले तो अचानक उनकी दृष्टि उसके माथे पर पड़ गई। मार्कण्डेय के ललाट की स्पष्ट रेखाएं उसकी अल्पायु की कहानी कह रही थीं। वसिष्ठ ने तुरन्त भांप लिया कि इस लड़के की मृत्यु निकट है और मेरा आशीर्वाद व्यर्थ जाएगा। सातों ऋषि बड़े सोच में पड़ गए। वे मार्कण्डेय की सेवाओं से इतने प्रसन्न थे कि किसी प्रकार भी उसकी मृत्यु नहीं चाहते थे। खैर उस समय वे कुछ भी न बोलकर दौड़े-दौड़े ब्रह्मा के पास गए और उनसे बालक को दीर्घायु बनाने की प्रार्थना करने लगे। सप्तर्षियों की बातें सुनकर ब्रह्मा बहुत जोर से हँसे। "आप लोग व्यर्थ ही चिन्ता करते हैं," उन्होंने कहा, "यह लड़का तो शिव का उपासक है। शिवजी क्या अपने भक्त को छोड़ देंगे? आप लोग चिन्ता न करें। शिव का भक्त कभी कष्ट नहीं उठाता।" सप्तर्षिगण आश्वस्त होकर अपने घर चले गए।

इधर दक्षिण में प्रवास करते और अगस्त्य मुनि से शिक्षा प्राप्त करते 4 वर्ष बीत गए थे। मार्कण्डेय 16 वर्ष का हो गया था। अब मृत्यु के देवता यम को भी अपने कर्त्तव्य की याद आई। तुरन्त अपना पाश हाथ में लेकर यम मार्कण्डेय के पास पहुंच गया और पीछे से पाश का फन्दा

80-M/J(N)358MofI&B—2(a)



किशोरवय बालक के गले में डाल दिया। परन्तु मार्कण्डेय तो उस समय अपने इष्टदेव की पूजा में मग्न था। उसने यम से थोड़ा ठहर जाने को कहा। बालक की बात सुनकर यम बहुत जोर से हँसा, "अरे मूर्ख ! मौत भी किसी के लिए ठहरती है ?" वह बोला और फन्दे का एक ओर लपटा बालक के चारों ओर खींच दिया, फिर उसे जोर से झटका। यम की जिद्द देखकर बालक मार्कण्डेय तुरन्त शिवलिंग से चिपट गया। अपनी लम्बी बलिष्ठ बांहों से उसने शिवजी को अपनी छाती से लगा लिया। उसे लगा समस्त पृथ्वी का और उसका अपना कल्याण भी उस समय उसके शिवलिंग को चिपटाए रखने पर निर्भर है। चाहे जो हो जाए, वह शिवप्रतिमा को नहीं छोड़ेगा।

इधर यम के क्रोध का पारा चढ़ने लगा। उसे अपने काम में विलम्ब की आदत नहीं थी। वह तो मिनटों में आता और आनन-फानन में अपना काम करके चला जाता था। यम ने अपनी पूरी शक्ति से रेशमी डोर को खींचा। बालक का गला रुंधने लगा। "हे महादेव ! रक्षा करो।" वह चिल्लाया। अचानक शिवलिंग उसके हाथ से छूट गया और भगवान् शिव प्रकट हुए, अपने पूरे रौद्र रूप में। बात यह हुई थी कि यम ने जब अहंकार में भर कर दूसरी बार अपना पाश फेंका तो शिवलिंग भी उसकी चपेट में आ गया था। इससे शिवजी को असुविधा हुई और वे क्रुद्ध होकर प्रकट हुए। शिवजी के एक धक्के से यम पछाड़ खाकर गिर पड़ा और अपना पाश लेकर भागा। भोलेनाथ ने बालक को गोद में बैठा कर प्यार किया और उसे दीर्घायु होने का वरदान दिया। उस दिन मार्कण्डेय की आयु 16 वर्ष की थी। शिवजी की कृपा से उसमें आजीवन 16 वर्ष के नवयुवक के समान कार्य करने की शक्ति आ गई और मृत्यु के जीत लेने के कारण उसी दिन से लोग भोलेनाथ को भी मृत्युंजय कहने लगे।

मार्कण्डेय अपनी दृढ़ इच्छा और संकल्प शक्ति के कारण ही मृत्यु को पराजित करने में सफल हुआ था। यदि उसमें स्वयं जीवित रहने की प्रबल कामना न होती तो शिवजी भी उसकी सहायता नहीं करते। क्योंकि भगवान् उन्हीं की सहायता करते हैं जो स्वयं अपनी सहायता करने को तत्पर रहते हैं। मृत्यु के मुख से बचकर किशोर मार्कण्डेय और भी अधिक परिश्रम से पढ़ने लगा। उसके ज्ञान और विद्या की ख्याति दूर-दूर तक फैलने लगी। एक बार व्यास मुनि के शिष्य जेमिनि यात्रा करते हुए मार्कण्डेय के निवास की ओर आ निकले। व्यास मुनि जब महाभारत की रचना कर रहे थे तो जेमिनि के मन में महाभारत के कुछ प्रसंगों के सम्बन्ध में संदेह पैदा हुए थे। उन्होंने सोचा, 'चलो यह अच्छा मौका है, मार्कण्डेय की परीक्षा लेने का। उनके ज्ञान का पता भी चल जाएगा, और अपने सन्देह दूर होंगे सो तो होंगे ही।' जेमिनि के प्रश्नों को सुनकर मार्कण्डेय ने उन्हें अपने चार शिष्यों के पास भेज दिया और कहा, "यदि उनसे आपका समाधान न हो सके तो पुनः मेरे पास चले आना।" मार्कण्डेय के ये शिष्य विन्ध्याचल पर्वत पर पक्षियों का रूप धारण कर रहते थे। उन्होंने जेमिनि का स्वागत किया और उनके प्रश्नों का उत्तर दिया।

मार्कण्डेय बड़े मार्के के पंडित थे। उनके एक शिष्य का नाम क्रोष्टुकी था। क्रोष्टुकी के कहने से उन्होंने सृष्टि के आरम्भ, उसके विनाश, पुनर्निर्माण, काल निर्णय, बारी-बारी से मनुओं का आगमन और प्रत्येक कल्प में होने वाले राजाओं की विशेषताओं के बारे में भी महत्वपूर्ण सूचनाएं दीं। उस समय में एक ओर यदि ज्ञान बढ़ रहा था, तो दूसरी ओर अज्ञान फैल रहा था। लोग ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य, अग्नि जैसे वेदों के समय के देवताओं को भूल रहे थे। वर्षा के पानी, सर्य के प्रकाश और

पृथ्वी की अग्नि का समुचित प्रयोग न हो पाने के कारण पृथ्वी पर अकाल और दुर्भिक्ष पड़ने लगे थे। मार्कण्डेय ने एक बार फिर प्रकृति की इन शक्तियों का अध्ययन किया और लोगों को उनका सही उपयोग सिखाया।

इस प्रकार बहुत काल तक अध्ययन-अध्यापन करते-करते मार्कण्डेय बहुत बूढ़े हो गए। परन्तु उनकी कार्य करने की शक्ति वही 16 साल के युवक जैसी रही। वृद्धावस्था में उनकी भक्ति मां दुर्गा की ओर हुई। दुर्गा उनके इष्टदेव भगवान् शिव की शक्ति थीं। एक दिन उन्होंने भक्ति के आवेश में मां दुर्गा की स्तुति में सात सौ श्लोक कह डाले। आगे चल कर उनकी यह कृति देवी-महात्म्य या दुर्गा सप्तशती के नाम से प्रसिद्ध हुई। आज सारे विश्व में हजारों भक्तगण देवी की पूजा में मार्कण्डेय के लिखे स्तोत्र गाते हैं।

ऋषि मार्कण्डेय को अपने इष्ट भगवान् शिव और देवी दुर्गा से प्रेम तो था ही, अपनी मातृ-भूमि भारतवर्ष के प्रति भी उनका असीम अनुराग था। अपने महान् ग्रन्थ मार्कण्डेय पुराण में उन्होंने अनेकों स्थानों पर भारतभूमि का वर्णन किया है; उसकी नदियों पर्वतों की स्तुति गाई है। भारत को वे प्यार से जम्बू द्वीप कहा करते थे। एक श्लोक में उन्होंने भारत की सब नदियों के नाम गिनाए हैं, गंगा, सरस्वती, सिन्धु, चन्द्रभागा, वितस्ता, यमुना, इरावती, कुहु, गोमती, गंडकी, महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, नर्मदा......। जैसे कोई अपने प्रियतम का नाम बार-बार कागज पर लिखे, उसी प्रकार उन्होंने भारत के समस्त पहाड़ों से निकलने वाली सब नदियों के नाम लिख डाले।

मार्कण्डेय को अपने समय के स्त्री-पुरुषों का भी अच्छा ज्ञान था। अपने पुराण में उन्होंने सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की कथा लिखी। मुनि विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र की परीक्षा लेने के लिए उन्हें बड़े कष्टों में डाला। राजा हरिश्चन्द्र को राजपाट छोड़कर एक श्मशान में नौकरी करनी पड़ी, अपनी पत्नी को बेचना पड़ा, परन्तु वे अपनी सत्य प्रतिज्ञा से नहीं हटे। इसी बीच उनके पुत्र रोहिताश को सांप ने काट खाया और उसकी मृत्यु हो गई। मार्कण्डेय ने अपने शिष्यों के लिए साध्वी मदालसा की कहानी भी लिखी, जो इतनी विदुषी थी कि उसने अपने सब पुत्रों को स्वयं शिक्षित किया। इनमें अलर्क सबसे छोटा था, और बहुत ध्यान से पढ़ता था। मार्कण्डेय ने अपने ग्रन्थ में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के मनुष्यों की कहानियां लिखीं। विपश्चित् तो इतना दयावान था कि वह नरक भोगते हुए दुष्टों और पापियों की सहायता के लिए, स्वयं भी थोड़े समय के लिए नरक में रहने को तैयार हो गया। दूसरी ओर दम जैसा राजा भी था जिसने अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए वपुष्मान् को मार डाला और उसके शरीर से मांस नोंच कर उससे अपने पिता का तर्पण किया।

मार्कण्डेय बहुत काल तक जिए। अच्छे, बुरे, स्त्री-पुरुषों को उन्होंने बहुत निकट से देखा। प्रकृति की विनाशकारी और कल्याणकारी शक्तियों को अलग-अलग पहचाना और फिर अपने इस ज्ञान के निचोड़ को अपनी प्रसिद्ध पुस्तक मार्कण्डेय पुराण में लिख दिया।

याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद

ब्रह्मदेव स्नातक

महर्षि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियां थीं। ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी और कात्यायनी। कात्यायनी का नाम गार्गी भी था। सामान्य स्त्री की भांति कात्यायनी को सन्तान और धन-दौलत की वड़ी चाह थी और यह सव उसके घर में मौजूद था। ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी ऋषि के आश्रम में ब्रह्मविद्या सीखने पहुंची थी। उसे सांसारिक धन-दौलत की वजाय अमर होने की वड़ी लालसा थी।

जव याज्ञवल्क्य अपना घर और आश्रम छोड़कर तपस्या करने जाने लगे, तव उन्होंने आत्म-ज्ञान की साधिका ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी से कहा, "जीवन का चरम लक्ष्य पाने के लिए अव मैं घर-वार छोड़कर जा रहा हूं। पर इससे पहले तुम्हारे निर्वाह की व्यवस्था के लिए कात्यायनी और तुम्हारे बीच धन सम्पदा का बंटवारा करा दूं।" वे बंटवारा करने बैठ गए और दोनों पत्नियों को पास बुला लिया और अपना अभिप्राय वताया।

यह सुनकर मैत्रेयी वड़ी सरलता से याज्ञवल्क्य से कहने लगी, "यदि सारे संसार की धन-दौलत मुझे मिल भी जाए तो क्या मैं उससे अमर हो जाऊंगी? इसलिए जिस चीज के पाने पर मैं अमर न हो पाऊं, उसको लेकर क्या करूंगी? मेरे प्रियतम, अमर होने की जिस लालसा को लेकर तुम तपोवन जा रहे हो, वह तुम मुझे भी दे जाओ।" इतना कहकर मैत्रेयी ने अपने भाग की भी सारी सम्पत्ति कात्यायनी को सौंप दी।

याज्ञवल्क्य ने तव मैत्रेयी से कहा, "मैं अमर होने की जिस लालसा से घर छोड़कर जा रहा हूं, तुम्हारी कामना भी उसी ब्रह्मज्ञान को पाने की है। जिस वस्तु से तुमको प्यार है, वही मुझे भी अच्छी लगती है। लो, मैं वह सारा ब्रह्मज्ञान तुमको सौंपकर तपस्या करने शान्तिपूर्वक निकल जाऊंगा। अव तुम उस उपदेश को ध्यानपूर्वक सुनो और उस पर मनन तथा आचरण करना।"

महर्षि ने तव जो उपदेश दिया था, वह इस प्रकार है:

"हे मैत्रेयी! इस संसार में पति-पत्नी, माता-पुत्र, भाई-भाई, भाई-वहिन, सन्तान तथा कुटुम्बीजन सव एक दूसरे से सुख पाने की कामना से परस्पर प्रेम करते हैं। उसमें दूसरे को सुख देने की भावना मुख्य नहीं होती। सुख की कामना का केन्द्र होने के कारण ही प्रत्येक पदार्थ या प्राणी दूसरे को प्रिय लगता है। इसमें परोपकार की भावना गौण तथा स्वार्थ ही प्रधान होता है।"

"हे मित्रा की पुत्री! ब्रह्मज्ञान, क्षात्रशक्ति, धन-सम्पदा, साथी-संगी, बेटे-बेटियां, विद्वान और प्राणियों से प्रेम भी हम अपनी आत्मा को सुखी व सन्तुष्ट करने के लिए ही करते हैं। वैसा न करने पर हमारी आत्मा को पीड़ा पहुंचती है और उसी दुःख को दूर करने में हम लोग जुट जाते हैं। अपनी जिस आत्मा को सुख पहुंचाने में हम सारा जीवन पूरी शक्ति से लगे रहते हैं, उस आत्मा के स्वरूप को पहचानना ही हमारे जीवन का लक्ष्य है। इसको जान लेने पर मन के सारे तर्क-वितर्क, रोग और चिन्ता दूर हो जाते हैं। मैत्रेयी! इसी तत्वज्ञान को तुम ग्रहण करो, मानो, भली-भांति



सुनो। इसी में तुम्हारे जीवन की सफलता है और मानव जीवन का रहस्य निहित है। यह सारा जान लेने पर मन की सारी गांठें अपने आप खुल जाती हैं।"

अपनी बात को स्पष्ट करते हुए ऋषि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा—"देखो, इस शरीर या संसार में आत्मा ही सत्य है और समग्र ज्ञान और पदार्थ उसी आत्मा की अमरता को जानने के लिए साधन-मात्र हैं। गौण हैं। आत्मा के गुणमात्र हैं। इसलिए आत्मा को ही मानो, जानो व पहचानो। यही शाश्वत सत्य है। यही रहस्य है।"

इस संबंध में ऋषि ने मैत्रेयी के सामने कई बहुत सुन्दर उदाहरण देकर अदृश्य परन्तु ज्ञान के मूल लक्ष्य आत्मा की श्रेष्ठता को आगे चल कर समझाया। वे कहने लगे :

नगाड़ा जब बजाया जाता है तो उसमें से आवाज निकलकर बाहर आ जाती है। इसकी ध्वनियों को यदि मैत्रेयी ! तुम पकड़ना चाहो तो नहीं पकड़ सकतीं। उसको या तो नगाड़े पर हाथ रखकर और या नगाड़े बजाने वाले के हाथ को पकड़कर ही रोक सकती हो। इसी प्रकार इन्द्रिय रूपी नगाड़े की आवाज को पकड़ने या रोकने के लिए पहले पांच कर्मेन्द्रियों और पांच ज्ञानेन्द्रियों पर संयम (पकड़) करके, आगे बढ़कर आत्मा को पकड़ लो। उसको मानो, जानो और गुनो। सारे काम तब सध जाएंगे।

दूसरा उदाहरण शंख का है। शंख हमें आंखों से दीखता है। उसको बजाने पर उसमें से निकले शब्द कानों से सुनाई पड़ते हैं, पर नेत्रों से नहीं दीख पड़ते। अब यदि इसी शंख की आवाज को तुम रोकना चाहो, तो पहले शंख को पकड़ना होगा और तब शंख बजाने वाले को रोकना पड़ेगा। इसी भांति मैत्रेयी ! आत्मज्ञान के साथ के रजोगुणी शब्दों की ध्वनि रोकने के लिए शंखवादक आत्मा को पकड़ना-समझना होगा। तुम्हें उसी आत्मा को जानना, मानना और गुनना चाहिए।

तीसरा उदाहरण वीणा का है। मैत्रेयी ! यदि उसकी मीठी तान या स्वरों को तुम ग्रहण करना चाहो, तो उसकी मधुरता पाने के लिए तान को नहीं पकड़ सकते। उसके लिए पहले वीणा को और अन्त में उसके बजाने वाले हाथों को पकड़ लो। उस मीठी तान को छेड़नेवाला अन्तिम रूप में आत्मा ही है। उसमें जो मधुरता है, वही वीणा की तान में मुखरित होती है। इसलिए हे मैत्रेयी ! तुम उस आत्मा को ही जानो, पहचानो, बारम्बार जमकर उसकी साधना करो।

तुम्हें एक और भी मिसाल देता हूं। यदि गीली लकड़ियों को जलाया जाए तो धुआं आग से बाहर निकल पड़ता है। प्रिय मैत्रेयी ! जिस प्रकार धुआं उस लकड़ी में अदृश्य रूप से रहता है, उसी प्रकार आत्मा में ही उन सबका निवास अदृश्य रूप में रहता है। भलीभांति समझ लो कि आत्मा ही सबका मूल है, यह सदा ध्यान में रखो।

देखो, पानी में घुले नमक को उससे अलग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार मैत्रेयी ! यह आत्मा जीवन की शक्ति और सृष्टि के सारे पदार्थों में व्याप्त है। जब तक ये पदार्थ उस आत्मा से पृथक रहते हैं, उनकी अलग सत्ता का अनुभव होता है और उसमें विलय हो जाने पर उसकी सत्ता का अनुभव होता है और उसमें विलय हो जाने पर उसकी पृथक सत्ता नहीं रहती।

83M/J(N) 358 M of I&B—3

याज्ञवल्क्य ऋषि के इस अन्तिम उदाहरण से ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी सहसा चौंक पड़ी और बोली, "यहां से आत्मा के चले जाने पर पदार्थों का नामोनिशान मिट जाता है, यह सुनकर मेरा दिल टूट गया है। मैं निराश हो गई हूं।" ऋषि बोले–"मैंने यह बात तुम्हें डराने के लिए नहीं कही है। असली तत्वज्ञान समझाने के लिए मेरी पहले कही बात को समझ लेना बहुत आवश्यक है। सच बात यह है कि आत्मा और सृष्टि के पदार्थों को अलग मानना ही भय और अज्ञान का कारण है। इसलिए 'आत्मानमेव विजनिहि–आत्मा को पहचानो।' यही रहस्य है। वेदशास्त्रों का यही अनुशासन-आदेश है तथा मेरा भी यही उपदेश है। इसी तत्व को भलीभांति जानो, पहचानो और उस पर आचरण करो।"

महर्षि याज्ञवल्क्य यह कहकर तपोवन चले गए।

सिर जोड़ देने की कथा

ब्रह्मदेव स्नातक

अश्विनी कुमारों की वहुत-सी कथाएं ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों, पुराणों तथा आयुर्वेद के ग्रन्थों में मिलती हैं। व सभी वहुत रोचक और शिक्षाप्रद होने के साथ, भारत के स्वर्णिम इतिहास के युग का दिग्दर्शन भी करती हैं। अश्विनी कुमारों द्वारा कटे सिर जोड़ देने की घटना और वह भी घोड़े के सिर से जोड़ देना वड़ा ही अद्भुत और असंभव लगता है। जिस प्रकार कहानी में सस्पेंस-असमंजस (रहस्य) रखने से उसमें जान पड़ जाती है, उसी प्रकार इन प्राचीन उपाख्यानों में तत्व के साथ रोचकता को भी वनाए रखने का पूरा प्रयत्न किया गया है। इसी संदर्भ में यह कहानी भी आपको हम वता रहे हैं।

अश्विनी कुमार नाम का कोई एक आदमी नहीं है, वह युगल है। दो हैं। जोड़ले (जुड़वा) भाई हैं। दोनों का नाम अलग-अलग नहीं एक साथ ही लिया जाता है अर्थात एक नाम में, समान व्यक्तित्व में, दो भौतिक रूप हैं। चित्र को देख कर आपको यह स्पष्ट हो जाएगा। इसलिए इनका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में कहीं भी एकवचन में नहीं द्विवचन में ही किया गया है। दोनों अश्विनी कुमारों को अश्विनी या कुमारों कह कर ही सर्वत्र वर्णन मिलता है। इन्हीं अश्विनी कुमारों द्वारा च्यवन ऋषि की दीमक की वामी में लिपटी देह को दुवारा यौवन देकर सुजाता नामक युवा राजकन्या से विवाह करा कर अक्षय दाम्पत्य सुख की वर्षा करने का वर्णन विस्तार से अनेक प्राचीन ग्रन्थों में है। यह अपने आप में वड़ी रोचक कथा है।

इसी पुस्तक में अन्यत्र हमने महर्षि याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी की कहानी और सम्वाद का उल्लेख किया है। बृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्क्य ने आगे चलकर तत्वज्ञान का उपदेश मैत्रेयी को मधुविद्या के नाम से दिया था। उस में स्पष्ट वताया गया है कि इस ज्ञान के आदि प्रचारक या आविष्कारक कुमार ही थे।

आप यह जानने को उत्सुक होंगे कि अश्व (घोड़ा) अश्विनी, दोनों अश्विनी कुमार, अश्वमेध यज्ञ और अश्व के सिर काट कर मनुष्य या देवताओं के सिर में जोड़ देने की वातों का परस्पर क्या संबंध है। आज यदि हौर्स पावर (अश्व शक्ति) से ताकत नापी जाती है, तो उस पुराने जमाने में अश्व को ज्ञान का प्रतीक माना जाता था। इसीलिए उपनिषदों में देवताओं के मार्ग पर चलने का भार इन ज्ञानवान अश्विनी कुमारों पर डाला गया है।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इन दोनों अश्विनी कुमारों की माता अश्विनी थी। पिता का नाम सविता या सूर्य था। इन दोनों वालकों का नाम उस समय की परम्परा के अनुसार माता के ऊपर ही अश्विनी कुमार रखा गया था। वे दोनों कुमार अत्यन्त सुन्दर एवं कुशाग्रबुद्धि होने के साथ पीयूषपाणी चिकित्सक थे। आयुर्वेद या चिकित्सा विज्ञान के प्रथम द्रष्टा कहे जाने वाले भगवान धन्वन्तरि को भी चिकित्सा शास्त्र का आदि उपदेश अश्विनी कुमारों ने ही दिया था। वेद के मंत्रों,

80-M/J(N)358MofI&B—3



ब्राह्मण और उपनिषद् के साथ आयुर्वेद में इसीलिए सर्वत्र अश्विनी की स्तुति मिलती है। उन जैसा अद्‌भुत चिकित्सक और चीर-फाड़ करने वाला सर्जन आज तक सृष्टि में नहीं हुआ। अगली कथा से यह भली-भांति स्पष्ट हो जाएगा।

पुराण-इतिहास में देवासुर संग्राम का अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। परन्तु इन दोनों के अलावा नागों का इतिहास उतना ही पुराना है। देवताओं की भांति नाग भी ईश्वर-विश्वासी और सुसंस्कृत जाति थी। उनकी परम्पराएं श्रेष्ठ थीं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता समानता के अधिकारों के लिए संघर्ष करना तथा नारी जाति का सम्मान करना था। भगवान शंकर इस गण के सर्वसम्मत नेता थे। उनकी समाधि और पराक्रम दोनों बेजोड़ थे। देवता भी उनका सम्मान करते थे।

देवताओं में एक दुर्गुण यह था कि वे अपने को सर्वोपरि तथा सर्वश्रेष्ठ मानते थे। इतना होने पर भी देवताओं के राजा इन्द्र और अग्नि के समान अश्विनी कुमारों का भी उनके बराबर सम्मान था। सभी स्तुतियों में इन अश्विनी कुमारों की स्तुति की जाती थी और उन्हें हवि दी जाती थी। विश्व के प्रथम और सर्वोपरि चिकित्सक होने के कारण उनको श्रेष्ठ स्थान दिया जाता था। अनेक स्थलों पर उनकी निपुणता के प्रमाण इतिहास कथाओं से मिलते हैं।

उस युग में पर्वत से लेकर नन्दनकानन तक स्वर्ग में, जो वर्तमान तिब्बत के भीतर था, नागों के नेता भगवान शंकर के पराक्रम की कथा फैली हुई थी। विश्व के सारे भागों में कन्याएं वीर पति की पूजा करती हैं। इसी परम्परा के अनुसार देवताओं के वंश में जन्मी दक्ष प्रजापति की कन्या पार्वती ने मन ही मन शंकर को अपना पति मान लिया। अन्त में माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध मृगछाला लपेटे भस्मी रमाए दिगम्बर शंकर की पत्नी बनकर वे उनकी सेवा करने लगीं।

इस घटना के बाद दक्ष प्रजापति ने बड़ा राजसूय यज्ञ किया। विश्व के समस्त प्रतिष्ठित लोगों को उस यज्ञ में आमंत्रित किया गया। बेटी पार्वती और दामाद शंकरजी को सम्मानपूर्वक उस यज्ञ में बैठाना तो दूर, बुलाया भी नहीं गया। अपने मायके में हो रहे इस महान समारोह में शामिल होने को बेटी पार्वती का मन डोल गया। अपनी मां मेना और पिता दक्ष के घर जाने को वह विह्वल हो उठीं। शंकर ने बहुत समझाया कि बिना बुलाए तुम्हारा वहां जाना अपमानजनक है। अतः तुम वहां मत जाओ। पर बेटी अपने को काबू में न रख सकीं और पिता के घर पहुंच गईं।

यज्ञ की सारी तैयारियां पूरी हो चुकी थीं। बेटी के पहुंचने पर देवकुल के अभिमानी माता-पिता, बन्धु-बान्धव और यहां तक कि यज्ञ की वेदी के चारों और बैठे होता, अध्वर्यु, उद्‌गाता और ब्रह्मा किसी ने भी उनसे सम्मान व प्यार के दो शब्द नहीं कहे। पार्वती का मन टूट गया। वह अपने पति शंकर की सलाह ठुकरा कर मायके पहुंची थीं और कुछ चारा न देख कर, अतिदुखी होकर पार्वती ने अपने आपको जलते हुए यज्ञकुण्ड की लपटों में झोंक दिया। उनका शरीर तुरन्त भस्म हो गया।

यह समाचार शंकर के पास पहुंचा। अपनी प्रियतमा की इस उपेक्षा और अपमान पर वह समाधि त्यागकर क्रोध से पागल हो उठे। अपने सारे गणों को एकत्र किया और नागों के सेनापति बन कर नन्दनकानन पहुंच गए। एक क्षण पहले जहां वेदमंत्रों का पाठ एवं कोकिलकण्ठी देवपत्नियों का मंगलगान, हर्ष-उल्लास चल रहा था, वहां अब विनाश और संहार की लीला शुरू हो गई। देवताओं, उनकी पत्नियों, आमंत्रितों और यहां तक कि होम कराने वाले पंडितों के रक्त

से यज्ञभूमि लाल हो गई। उनके रुण्ड-मुण्ड इधर-उधर लुढ़कने लगे। उनके सिर काटकर शंकर ने हवनकुण्ड में भर दिए। पत्नी और नारी के अपमान का भरपूर वदला उन्होंने अब देवताओं से ले लिया था। वे अगली कार्रवाई करने पर विचार कर रहे थे।

देवों का राजा इन्द्र अब भयाक्रान्त था। उसको कोई मार्ग नहीं सूझ रहा था। गणपति शंकर को शान्त करने का अन्य कोई उपाय न देखकर उनके चरणों में माथा टेक कर दया की भीख मांगी। इस पर भगवान शंभु, युद्ध रोकने का आदेश दे कर पुन: कैलाश पर्वत पर समाधि लगा कर बैठ गए। यज्ञ की भस्मी से शंकर-प्रिया पार्वती अब जीवित हो चुकी थीं।

परन्तु, नन्दनवन में तो अनगिनत लाशें पटी पड़ी थीं। वड़ा वीभत्स और भीषण वहां का दृश्य था। विश्व का सबसे सुन्दर स्थान अब श्मशान वन गया था। अब इसका पुनर्निर्माण करने के लिए मरे हुए देवों को जिलाना वहुत जरूरी था। देवराज इन्द्र समेत देवगण अश्विनी कुमारों की शरण में पहुंचे। उनसे मरे हुओं को जीवित करने की प्रार्थना की। अश्विनी कुमार पीयूषपाणि चिकित्सक तथा सर्जन तो थे ही। देवताओं की आराधना से प्रसन्न और दयार्द्र हो कर उन्होंने कटे हुए सिरों को तत्काल जोड़ना शुरू कर दिया और जिन रुण्डों के मुण्ड नहीं मिल रहे थे, उनके स्थान पर घोड़ों के सिर काट कर जोड़ दिए। यदि हम इस कथा का सस्पेंस पूरा करने के लिए आपको अब वता दें कि बुद्धि के प्रतीक अश्व के द्वारा उनके नाम से ही जगविश्रुत सर्जन अश्विनी कुमारों ने उन कटे हुए सिरों को जोड़ दिया था तो कहानी का मजा पूरा-पूरा मिल जाएगा।

आदर्श राजा और आदर्श राज्य

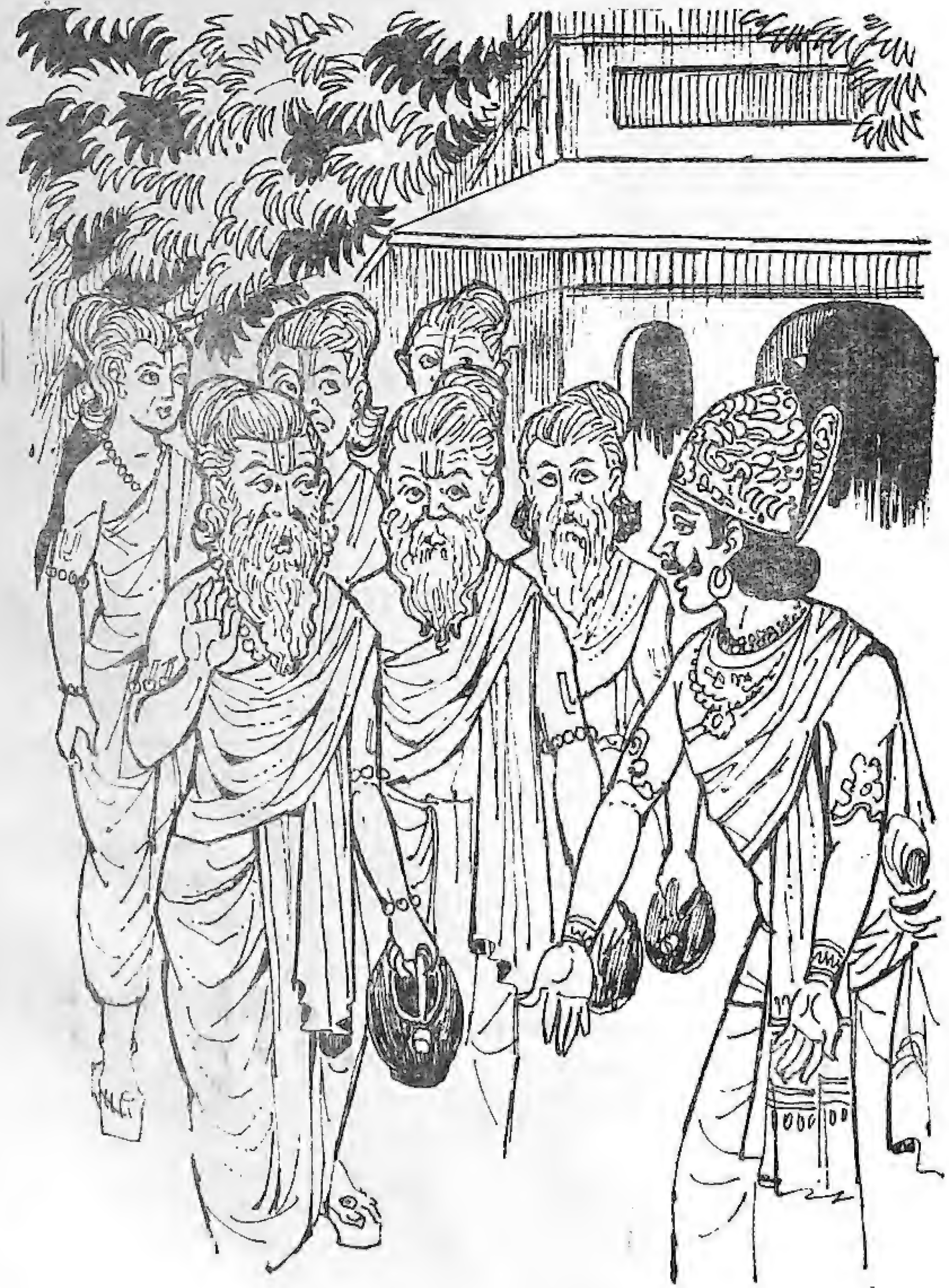
डा० भक्त राम पाराशर

भारत के उत्तर-पश्चिम में केकय देश था। यह देश आजकल जिला गुजरात व जेहलम् (पाकिस्तान) के अन्तर्गत है। इसमें राजा अश्वपति राज्य करता था। केकय एक आदर्श राष्ट्र था, जहां की कन्या कैकेयी अयोध्या के राजा दशरथ की रानी और राजकुमार भरत की माता थी। एक वार की वात है कि भारतवर्ष के प्रसिद्ध पांच वैदिक पंडित-प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रधुम्न, जन और बुडिल–एक आध्यात्मिक गोष्ठी में बैठे थे। चर्चा का विषय था–वैश्वानर आत्मा या ब्रह्म क्या है ? वे पण्डित जहां विद्वान थे वहां वड़े विशाल भवनों में भी निवास करते थे। अपनी गोष्ठी की चर्चा में वे निर्णय नहीं कर सके कि आत्मा, ब्रह्म क्या है, कैसा है? उनके मन में विचार आया कि इस प्रश्न का समाधान करने के लिए अरुण के वंशज उद्दालक मुनि के पास जाना चाहिए। उन दिनों वह वैश्वानर आत्मा की खोज करने में प्रसिद्ध थे। वे उद्दालक मुनि के पास पहुंचे। मुनि ने उनका अभिप्राय समझ लिया। उन्होंने सोचा, 'शायद मैं इनकी शंका का समाधान न कर सकूं।' वह बोले, "मैं आप पांचों महानुभावों का सहर्ष स्वागत करता हूं। आप ब्रह्मज्ञान की इच्छा से आए हैं। सुना जाता है कि केकय देश का राजा अश्वपति वैश्वानर आत्मा या ब्रह्म की खोज में तत्पर है। आइए हम सव उसके पास चलें। वह इस प्रश्न को समझाने वाले योग्य गुरु हैं।"

उद्दालक मुनि के साथ वे पांचों विद्वान केकय देश में जा पहुंचे। उन्होंने राजा से भेंट की। महाराज अश्वपति स्वयं ब्रह्मज्ञानी थे, वैश्वानर आत्मा के ज्ञाता थे। विश्व के नर-नारी में, जड़-चेतन में, जगत में, धरती-आकाश में, सूर्य-चन्द्र में व्यापक वैश्वानर परमात्मा को, उसके स्वरूप को जानते थे। राजा ने छहों अतिथियों का यथोचित सत्कार करने के लिए सेवकों को आज्ञा दी। उनके विश्राम करने के उपरान्त राजा ने स्वयं आकर उन्हें भोजन के लिए निमंत्रण दिया। वे विद्वान भोजन के विषय में वड़े संयमी थे। वे शुद्ध साधनों से प्राप्त अन्न का भोजन करते थे। वे जानते थे कि 'जैसा खाए अन्न वैसा वने मन'। उनका जीवन सात्विक था, भोजन सात्विक था। इसलिए वे सात्विक, धार्मिक व्यक्ति के यहां ही भोजन करना चाहते थे। राजसी व्यक्ति के यहां और राजसी भोजन उन्हें पसन्द न था। उद्दालक मुनि ने कहा, "राजन्, भोजन के निमंन्त्रण के लिए आपका धन्यवाद है, किन्तु राजा का भोजन हमें स्वीकार नहीं।"

राजा अश्वपति को वड़ा आश्चर्य हुआ और साथ ही दुख भी। वह दुविधा में पड़ गया कि अतिथियों द्वारा "भोजन स्वीकार न करना मेरे लिए, मेरे राज्य के लिए वड़ी लज्जा की बात है।" राजा ने विनय से पूछा, "मुनिवर, भोजन अस्वीकार करने का क्या कारण है ? आप हमारे अतिथि हैं। आपका आतिथ्य करना, भोजन कराना मेरा अहोभाग्य है। क्या मैं आपके द्वारा भोजन स्वीकार न करने का कारण जान सकता हूं ?"

उद्दालक मुनि बोले, "राजन्, हम सात्विक जीवन बिताते हैं, सात्विक साधनों से प्राप्त अन्न ग्रहण करते हैं। तुम राजा हो, शासक हो। तुम्हारे राज्य में सज्जन, दुर्जन, श्रेष्ठ, दुष्ट, सदाचारी, दुराचारी, धनी, निर्धन, उदार और कृपण सभी प्रकार के नर-नारी निवास करते हैं।



सबकी कमाई का धन, कर के रूप में तुम्हारे कोष में ग्राता है। वह धन ग्रपवित्र भी है। उस धन से प्राप्त ग्रन्न का भोजन करने से हमारा मन भी ग्रपवित्र हो जाएगा। हमारी तपस्या में, समाधि में विघ्न पड़ेगा। ग्रत: ऐसा रजोगुणी, तमोगुणी भोजन हमें स्वीकार नहीं।"

ग्रश्वपति स्वयं एक चरित्रवान राजा था। पवित्र धन ग्रौर पवित्र भोजन का सम्बन्ध समझता था। वह ग्रात्मा या ब्रह्मतत्व का खोजी भी था। तब 'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत के ग्रनुसार उसे ग्रपनी प्रजा के भी सदाचारी होने का विश्वास था। इसी विश्वास के ग्राधार पर राजा ने मुनियों के सामने गर्व के साथ घोषणा की—हे मुनिजन,

"नहीं चोर, कंजूस नहीं सब शराब से दूर।
नित्य हवन की सुगन्ध से घर-घर है भरपूर।
शिक्षित नर-नारी सभी, कहीं नहीं व्यभिचार।
ग्रश्वपति के राज्य में सदाचार विस्तार।"

"मेरा केकय देश एक ग्रादर्श राज्य है। दूसरे राज्यों से इसमें ग्रनेक विशेषताएं हैं। मैं गर्व के साथ घोषणा करता हूं कि मेरे राज्य में कोई चोर नहीं; सभी नर-नारी समृद्ध हैं तथा दूसरे के धन को मिट्टी के ढेले के समान देखते हैं। वे किसी के धन को लोभ या चुराने की भावना से नहीं देखते। न कोई किसी व्यक्ति के धन का चोर है ग्रौर न ही सरकारी सम्पत्ति या कर की चोरी करता है। कोई तस्कर भी नहीं। दूसरी विशेषता यह है कि कोई कंजूस नहीं। धनवान ग्रपने धन का उपयोग करने में उदार हैं। वह सामाजिक, परोपकार ग्रौर सर्वहितकारी कार्यों में धन लगाते हैं तथा ग्रपने सुख भोग में व्यय करते हैं। तीसरी विशेषता यह है कि मेरे राज्य में कोई शराबी नहीं। क्योंकि मद्यपान से मन विगड़ता है, मन विगड़ने से पाप उत्पन्न होता है। पाप करने से मानव की दुर्गति हो जाती है। इस परिणाम को सभी जानते हैं इसलिए यह पारिवारिक या सामाजिक व्यसन ग्रश्वपति के राज्य में नहीं।"

पंडित मण्डली राजा की घोषणा को बड़े ध्यान से सुन रही थी। राजा ने ग्रपना कथन जारी रखा, "मद्यपान के व्यसन से व्यक्ति का नहीं ग्रपितु परिवार का, कुल का, मान का, समाज का नाश होता है। यदि राजा शराब पीने के व्यसन में फंसा हो तो सारे राष्ट्र का नाश हो जाता है। शारीरिक, मानसिक, ग्राथिक एवं चारित्रिक नाश हो जाता है।" राजा ने ग्रपनी ग्रोजस्वी वाणी से चौथी विशेषता बताते हुए कहा कि मेरे राज्य में घर-घर में प्रतिदिन यज्ञ-हवन होता है। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो नियमपूर्वक हवन न करता हो। यज्ञ-हवन की ग्रग्नि ग्रौर सुगन्धि घर-घर में, गली-गली में, नगर-नगर में जलवायु को प्रभावित करती है। इससे मेरे देश के नर-नारी निरोग, स्वस्थ ग्रौर दीर्घायु हैं, ग्रग्नि के समान तेजस्वी हैं ग्रौर सुखी हैं। यज्ञ-हवन से घर-घर स्वर्ग बना हुग्रा है। वेद-मन्त्रों की गुंजार ग्रौर यज्ञ की सुगन्धित वायु सब के शरीर व मन को पावन बना रही है।

राजा की बातों को सुनकर छहों मुनि ग्रपने को धन्य मान रहे थे कि हम ग्राज ऐसे ग्रादर्श राज्य को साक्षात देख रहे हैं। केकय देश को देखकर ग्रौर राजा ग्रश्वपति से वार्तालाप करके उनके दोनों प्रयोजन सिद्ध होने जा रहे थ—एक उच्च ग्रादर्शपूर्ण राज्य का दर्शन, दूसरा वैश्वानर ग्रात्मा ग्रर्थात् ब्रह्म का ज्ञान। एक पन्थ दो काज।

80-M/J(N) 358 M of I&B—4

उद्दालक मुनि ने प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए कहा—कहिए, कहिए राजन् ! अश्वपति ने शिक्षा के प्रचार-प्रसार के विषय में अपने देश की पांचवीं विशेषता बताते हुए कहा, "मेरे राज्य में कोई अशिक्षित, अनपढ़ नहीं। सभी साक्षर, विद्वान हैं। अनिवार्य शिक्षा, निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था राज्य की ओर से होने के कारण सभी नर-नारी विद्वान और विदुषी हैं। विद्याहीन, ज्ञानहीन मानव पशुतुल्य होता है। जब साधारण नागरिक भी पढ़ा लिखा है फिर दूसरों की तो बात ही क्या है।" अन्तिम विशेषता तो विशेषताओं में भी विशेष है जो एक सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए, नर-नारी के लिए उच्च चरित्र का प्रमाण-पत्र थी। अतः महाराज अश्वपति बोले, "हे मुनिगण, मेरे राज्य में, जनसमाज में, कोई पुरुष व्यभिचारी, कामी और लम्पट नहीं, सब जितेन्द्रिय और संयमी हैं। सब पुरुष पत्नीव्रत हैं तथा स्त्रियां पतिव्रता हैं। जब पुरुष व्यभिचारी नहीं तो व्यभिचारिणी स्त्री कैसे मिल सकती है? नर-नारी ब्रह्मचर्य अर्थात् संयमी जीवन का पालन करते हैं। उन्होंने सदाचार केवल पुस्तक में नहीं पढ़ा या जाना अपितु उसे अपने व्यवहार में, जीवन में अपनाया हुआ है। व्यभिचार शब्द केवल शब्दकोश में मिलेगा, व्यवहार में नहीं। सर्वत्र सदाचार का प्रचार-प्रसार है। सब पुरुष पर-नारी को माता, बहिन, बेटी तुल्य जानते हैं। उनकी दृष्टि और आचरण पवित्र हैं। ये छह विशेषताएं मेरे केकय राज्य में, राजपुरुषों में, कर्मचारी-अधिकारियों में, नर-नारियों में शोभायमान हैं। मुझे अपने ऐसे राज्य पर सच्चा गर्व है। फिर आप मेरा भोजन क्यों स्वीकार नहीं करते? मेरी प्रजा धार्मिक और पवित्र है। मेरे राजकीय कोष में प्रजा से कर के रूप में एकत्रित धन पवित्र है। उस धन से बना भोजन पवित्र है, अतः कृपया भोजन स्वीकार कर मुझे कृतार्थ कीजिए।"

मुनिवर उद्दालक सहित पांचों मुनि महाराज अश्वपति के मुख से एक आदर्श राज्य का वर्णन सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने राजा का निमन्त्रण स्वीकार कर सहर्ष भोजन ग्रहण किया और विश्राम करने लगे।

अगले दिन प्रातःकाल राजा से पुनः भेंट हुई। अश्वपति ने सबको सादर प्रणाम किया, स्वागत किया, उचित आसनों पर बैठाया। फिर निवेदन किया कि मैं एक महान यज्ञ रचाने वाला हूं। कृपया आप सब मुनिजन भी उसमें शामिल हों। यज्ञ करने वाले हरेक ऋत्विज को मैं जितना धन दक्षिणा के रूप में दूंगा, उतना आपमें से भी प्रत्येक को दूंगा। यह मेरा संकल्प है। आशा है कि आप मेरे यज्ञ को सुशोभित करेंगे, पूरा सहयोग देंगे, क्योंकि यज्ञ को सबसे श्रेष्ठ कर्म बताया गया है।

उन्होंने कहा, "हम जिस प्रयोजन से यहां आए हैं, पहले वह पूरा होना चाहिए।"

राजा के विनयपूर्वक पूछने पर वे बोले, "हमने सुना है कि आप वैश्वानर आत्मा को जानते हैं या उस आत्मा की, ब्रह्म की खोज में लगे हुए हैं। आपसे बढ़कर दूसरा ज्ञानी इस विषय में हमने नहीं सुना।"

राजा ने उनके निवेदन को सहर्ष स्वीकार किया। उसने वैश्वानर आत्मा के विषय में पहले उनके विचार जानने चाहे। सबसे पहले पण्डित प्राचीनशाल से पूछा कि आप किसे वैश्वानर आत्मा मानकर उसकी उपासना करते हैं?

"मैं नक्षत्रों, तारों से चमकते द्युलोक को आत्मा मानकर उसकी उपासना और भक्ति करता हूं।" प्राचीनशाल ने बताया।

राजा बोला, "यह चमकीला द्युलोक तेजोमय लोक है। यह उस वैश्वानर ग्रात्मा के केवल सिर के तुल्य है। यह सारा वैश्वानर ग्रात्मा नहीं, उसका एक ग्रंश है, भाग है। उसकी उपासना की कृपा से, परमेश्वर के ग्राशीर्वाद से, भरपेट भोजन, सभी प्रिय वस्तुएं ग्रापको प्राप्त हैं तथा ग्रापका कुल तेजस्वी है।"

फिर राजा ने सत्ययज्ञ से यही प्रश्न किया। उसने सूर्य को वैश्वानर ग्रात्मा मानकर उपासना करना वताया। ग्रश्वपति ने उसे भी वही उत्तर दिया कि सूर्य तो उस वैश्वानर ग्रात्मा ब्रह्म का एक रूप है, सम्पूर्ण रूप नहीं, न यह उसका एक प्रकाशमय रूप है। यह उसकी उपासना व परमात्मा के ग्राशीर्वाद से ग्रापके पास रथ हैं, सेवक हैं, उत्तम भोजन है ग्रौर ग्रापके कुल में ब्रह्मतेज है। यह सूर्य तो उस ग्रात्मा की ग्रांख ही है। पुनः राजा ने इन्द्रद्युम्न से पूछा कि किसे वैश्वानर ग्रात्मा मानकर उसकी भक्ति करते हो?

"मैं वायु की भक्ति करता हूं", उसने उत्तर दिया।

"यह भी वैश्वानर ग्रात्मा का एक ही रूप है, पूरा रूप नहीं। उसकी भक्ति से ग्राप भी संसार के सभी सुख भोगते हैं, ब्रह्मतेज ग्रापके कुल में दिखाई देता है"—राजा ने वताया। इसके वाद चौथे विद्वान ने बताया कि वह ग्राकाश को ग्रात्मा मानकर उसकी उपासना करता है। पांचवें विद्वान बुडिल ने जल को ग्रात्मा ग्रौर उसकी भक्ति करना वताया। छठे उद्दालक मुनि ने पृथ्वी को वैश्वानर ग्रात्मा कहा। किन्तु सवका उत्तर ग्रधूरा ही था। ग्रतः राजा ग्रश्वपति ने समाधान करते हुए कहा कि ग्राप सव वैश्वानर ग्रात्मा के एक-एक रूप की उपासना, भक्ति करते हैं। उसे विराट, विशाल रूप में देखें। तारों से चमकता लोक-द्युलोक उस वैश्वानर ग्रात्मा का, ब्रह्म का सिर है, सूर्य उसकी ग्रांख है, वायु उसका प्राण है, ग्राकाश धड़ है, जल वस्ति है, पृथ्वी पांव हैं। इस प्रकार इस ग्रात्मा को ब्रह्म को सब जगह व्यापक, सब प्राणियों में, सब ग्रात्माग्रों में व्यापक मानकर उसकी उपासना ग्रौर भक्ति करनी चाहिए। राजा ग्रश्वपति के उपदेश से सव मुनि सन्तुष्ट ग्रौर प्रसन्न हुए।

क्या होगा

चन्द्र दत्त इन्दु

एक परमहंस महात्मा थे। बचपन में ही घर त्याग कर सन्यास धारण कर लिया था। एकांत में रह कर भजन करते थे। संसार से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं था। उनका जीवन शांति से बीत रहा था। महात्मा के त्याग और तपस्या की चर्चा दूर-दूर तक फैली थी।

एक दिन वह तीर्थ यात्रा पर निकले। चलते-चलते किसी गांव के समीप से गुजरे। गांव के बाहर बाग था। महात्मा वहां आए, तो वहां भी भीड़-भाड़ थी। बाजे बज रहे थे। घोड़े, रथ सजे खड़े थे। खाना-पीना चल रहा था।

यह देखकर महात्मा जी को कौतुहल हुआ। उन्होंने एक आदमी से पूछा, "यह भीड़-भाड़ कैसी है? क्या हो रहा है यहां? किसी युद्ध की तैयारी तो नहीं हो रही?"

महात्मा जी के भोलेपन पर गांव वाले को हँसी आ गई? उसने विनम्रता से कहा, "यह बारात है, गांव में आई है, उसी का स्वागत-सत्कार हो रहा है। खा-पीकर बारात घोड़े, रथों पर बैठ कर बेटी वाले के घर जाएगी। अभी इससे भी अधिक धूम-धड़ाका होगा।"

महात्मा जी ने कभी बारात देखी नहीं थी। उन्हें यह भी पता न था कि बारात होती क्या है। अपनी जिज्ञासा शांत करने के लिये उन्होंने पूछ ही लिया, "भइया, यह बारात क्या होती है?"

"महाराज, हमारे गांव में एक किसान की लड़की की शादी है। ये बेटे वाले हैं, शादी करने आए हैं। इसी की खुशी में आज नाच-गाना भी होगा।" उस आदमी ने बताया।

"मगर शादी क्या होती है, कैसे होती है?" महात्मा जी ने पूछा।

गांव वाले ने बताया, "दूल्हा-दुल्हन मण्डप में आते हैं फिर उनकी शादी होती है। शादी के बाद वे अपनी गृहस्थी बसाते हैं। संसार का सुख भोगते हैं।"

महात्मा जी सोचने लगे, 'यह सुख क्या होता है। मुझे भी शादी करके संसार का सुख भोगना चाहिए। चलो, पहले बारात के साथ रहकर शादी कैसे होती है, यह देखा जाए।' बस, महात्मा जी बारात के साथ चल पड़े। गांव वालों ने महात्मा जी का भी बारात के साथ स्वागत किया। महात्मा जी खाते थे कंद, मूल, फल। आज उन्होंने स्वादिष्ट पकवान खाए। यद्यपि स्वाद को वह पहचानते न थे फिर भी नए तरह का खाना खाकर उन्हें नया-नया लग रहा था। इसके बाद महात्मा जी ने बाजे सुने, महिलाओं द्वारा गाए जाने वाले गीतों को सुना। रात को विवाह मण्डप में जाकर शादी होती भी देखी। आधी रात तक यह सब कुछ होता रहा। उसके बाद बाराती सो गए। महात्मा जी भी एक कुएं के चबूतरे पर आकर लेट गए। आज उन्होंने भजन-पूजन भी नहीं किया। पेट भरा था, लेटते ही नींद आ गई।



दिन भर जो देखा था, वह अचेतन मन में था। स्वप्न में उन्होंने देखा कि उन का भी विवाह हो रहा है। बारात भी चढ़ी है। वह घोड़ी पर बैठे हैं। घोड़ी उछल रही है। उन्हें डर लगा, बस जरा करवट ली, और धड़ाम से कुएं में .....।

महात्मा जी कुएं में गिरे तो जोर से आवाज हुई। कुछ बाराती जाग रहे थे। कुएं में किसी के गिरने की आवाज सुन वे भागे आए। गांव वाले भी इकट्ठा हो गए। महात्मा जी को बाहर निकाला गया। वह जिंदा थे मगर सिर में चोट लगी थी, खून बह रहा था, गांव वालों ने वैद्य को बुलवाया, उपचार हुआ। कुछ देर में उन्हें होश आ गया।

गांव वालों ने पूछा, "महात्मा जी आप गिर कैसे गए"?

महात्मा जी ने कान पकड़ कर कहा, "हुआ क्या, मैंने विवाह देखा। उसी का यह परिणाम मिला। जब संसार के सुखों को देखने मात्र से यह दुर्दशा हुई, तो न जाने उन सुखों को भोगने वालों की क्या दुर्दशा होती होगी। मैं तो आप की सहायता से कुएं से बाहर भी निकल आया, किन्तु जो इस संसार के भोगों को ही सब कुछ समझते हैं वे शायद ही मोह के अंधकूप से कभी बाहर निकल सकें।"

यह कहते हुए महात्मा जी अपने रास्ते पर चल दिए।

ब्रह्म ही सबसे बड़ी शक्ति है

उर्मिला वार्ष्णेय

एक वार ब्रह्म ने देवों पर प्रसन्न होकर उन्हें अपनी शक्ति प्रदान कर दी। ब्रह्म से शक्ति पाकर देवों ने असुरों को जीत लिया। उस विजय के फलस्वरूप देवों के मन में अभिमान भर गया कि वे ही सर्वशक्तिमान हैं। उन्हें कोई भी नहीं हरा सकता। अभिमान क्यों न होता? अपने वल-पौरुष से ही तो उन्होंने असुरों को जीता है, ऐसा उन्होंने अपने मन में सोचा।

उनके इस अभिमान को देखकर ब्रह्म ने सोचा, 'यदि उनके इस अहं भाव को न हटाया गया तो अवश्य ही एक दिन उनका पतन होगा।' यही सोच कर वे उनके सामने एक दिव्य यक्ष के रूप में प्रकट हुए।

देवता भौंचक्के से इस अद्भुत रूप को देखते रहे। पहचान न पाए कि वह कौन है। वे मन ही मन सहमे और उसका परिचय जानने के लिए उत्सुक हो उठे।

उन्होंने सोचा, 'अग्निदेव परम तेजस्वी हैं। वेदों के भेदों को जानने वाले हैं। सर्वज्ञ हैं। तभी तो उनको "जातवेद" का नाम दिया गया है। इसीलिए वह इस कार्य के लिए सबसे उपयुक्त रहेंगे।'

देवों ने अग्नि से प्रार्थना की, "हे जातवेद, आप ही जाकर पूरा पता लगाइए कि वह अद्भुत रूप कौन है?"

अग्निदेवता को अपनी बुद्धि और वल पर अटूट विश्वास था। बोले, "अच्छी वात है, अभी पता लगा कर आता हूं।" वे तुरन्त यक्ष के समीप जा पहुंचे। अग्नि को अपने समीप देखकर यक्ष ने पूछा, "आप कौन हैं?"

अग्नि को अपनी शक्ति पर वड़ा गर्व था। उन्होंने सोचा, "मेरे तेज को सभी पहचानते हैं, फिर इसने कैसे नहीं जाना?" तमककर बोले, 'तुम मुझे नहीं जानते? मैं अग्नि हूं। मेरा ही नाम जातवेद है।'

ब्रह्म ने अनजान वनकर कहा, "अच्छा तो आप ही अग्निदेव सर्वज्ञ और जातवेद हैं? आपने दर्शन देकर वड़ी कृपा की। क्या आप अपने सामर्थ्य का बखान कर सकते हैं?"

अग्निदेवता झुंझला उठे। बोले, "मैं क्या कर सकता हूं, आप यह जानना चाहते हैं? मैं क्या नहीं कर सकता? मैं चाहूं तो पल भर में सारे भूमंडल को जला कर राख की ढेरी बना दं।"

"अच्छा, यह वात है? तो जरा इस सूखे तिनके को जला दीजिए।"

यह कहकर यक्षरूपधारी ब्रह्म ने एक तिनका अग्निदेव के सामने रख दिया। अग्निदेव ने इसे अपना अपमान समझा। फिर भी उन्होंने उसे जलाने का प्रयत्न किया :

पर यह क्या? अपनी सारी शक्ति लगाने पर भी तिनका ज्यों-का-त्यों रहा। कारण स्पष्ट था। ब्रह्म ने अग्निदेव को जो अपनी शक्ति दाह के रूप में दी थी वह अपने पास वापस समेट ली थी। फिर सूखा तिनका कैसे जलता? अग्नि देव लज्जा से जल गए और देवताओं के पास वापस आकर बोले, "मैं इस यक्ष को पहचानने में असफल रहा हूं।"



देवों ने वायुदेव से कहा, "भगवन्, आप पता लगाएं यह यक्ष कौन है ।"

वायुदेव को भी अपने बुद्धि–बल पर पूरा भरोसा था। मुस्कराकर उन्होंने अग्निदेव की ओर देखा । बोले, "अच्छा मैं अभी जाकर पता लगाकर लौटता हूं ।"

वायु को अपने समीप खड़ा देखकर यक्ष ने पूछा, "आप कौन हैं ?"

वायु ने तमककर उत्तर दिया, "मैं वायु हूं । मुझे मातरिश्वा भी कहते हैं । मुझे कौन नहीं जानता ?"

यक्ष ने फिर अनजान बनकर कहा, "अच्छा, आप ही हैं जो अंतरिक्ष में बिना आधार के घूमते फिरते हैं ? आप ही वायुदेव मातरिश्वा हैं ? कृपा कर बताएं कि आप में क्या शक्ति है । आप क्या कर सकते हैं ?"

इस पर वायु ने भी अग्नि की भांति गर्व से उत्तर दिया, "मैं चाहूं तो सारे भू-मंडल को बिना आधार के उठा दूं और उड़ा दूं ।"

"तब तो आप सचमुच बड़े बलधारी हैं। जरा इस सूखे तिनके को तो उड़ा दीजिए ।"

वायुदेवता ने इसे अपना अपमान समझा । फिर भी तिनके को उड़ाने के लिए तैयार हो गए । उन्होंने पूरी शक्ति लगा दी पर तिनका उड़ना तो क्या था, हिला भी नहीं । वह भी अग्नि की भांति लज्जित हो तिलमिला कर लौट आए । बोले, "मैं भली-भांति नहीं जान पाया कि यह यक्ष कौन है ।"

जब अग्नि और वायु जैसे अतिशक्तिसम्पन्न दवगण असफल होकर चले आए तो सभी देवता देवराज इन्द्र के पास गए । उनसे प्रार्थना की, "आप ही जाकर पता लगाइए कि यह यक्ष कौन है । आपकी तो एक सहस्त्र आंखें हैं ।"

"अच्छा अभी लो । यह कौन बड़ी बात है ?"

वे तुरन्त यक्ष के पास पहुंचे। पर उनके वहां पहुंचते ही देखते-देखते यक्ष अंतर्धान हो गया । इन्द्र में सबसे अधिक अभिमान था । इसलिए यक्ष ने इन्द्र से बात करना भी उचित न समझा ।

इन्द्र असमंजस में वहीं खड़े रहे । वायु और अग्नि की भांति वापस नहीं आए । थोड़ी देर के बाद उन्हें उसी स्थान पर हिमाचलकुमारी दिखाई दीं । इन्द्र ने भक्तिपूर्वक उनको प्रणाम किया । बोले, "देवी, आप शंकर भगवान की शक्ति हैं । आपको अवश्य पता होगा कि यह यक्ष कौन था । किसलिए वह यहां आया था और देखते ही देखते अंतर्धान हो गया ?"

उमा ने उत्तर दिया, "वह दिव्य यक्ष स्वयं ब्रह्म थे । तुम लोगों ने जो असुरों पर विजय प्राप्त की है, वह उन्हीं ब्रह्म की कृपा से की है । तुम तो सिर्फ निमित्त मात्र थे । तुम सभी देवतागण ब्रह्म की इस विजय को अपनी विजय समझ बैठे । उनकी महिमा को अपनी महिमा समझ बैठे । तुम्हारे झूठे अभिमान को दूर करने के लिए ही वह यक्ष रूप में प्रकट हुए थे । उन्होंने अग्नि और वायु के दर्प का नाश किया और तुम्हें सच्चा ज्ञान देने के लिए मुझे भेजा । तुम अपनी शक्ति का सारा अभिमान त्याग दो । तुम्हारी सारी शक्ति उसी ब्रह्म की है । जिन ब्रह्म की शक्ति से तुम शक्तिवान बने हो उनकी महिमा को समझो । स्वप्न में भी यह नहीं सोचना चाहिए कि ब्रह्म की शक्ति के बिना तुम अपनी स्वतंत्र शक्ति से कुछ कर सकते हो ।"

80-M/J(N)358MofI&B—5

सत्यकाम जाबाल

अशोक कौशिक

बहुत पुराने जमाने की बात है। उन दिनों महर्षि गौतम के आश्रम का गुरुकुल पढ़ने-पढ़ाने के लिए बहुत प्रसिद्ध था। दूर-दूर के देशों से बालक उनके आश्रम में विद्याध्ययन के लिए आया करते थे। उन्हीं के एक बहुत प्रसिद्ध शिष्य हुए हैं सत्यकाम जाबाल।

महर्षि गौतम के आश्रम से कुछ दूर एक गांव में एक सदाचारिणी ब्राह्मणी रहती थी। उसका नाम था जबाला। उस मार्ग से गुजरने वाले यात्रियों की सेवा कर उनसे प्राप्त होने वाले धन से वह अपना जीवन निर्वाह करती थी। उसका पुत्र बड़ा योग्य था। वह जब कुछ बड़ा हुआ तो उसकी माता को उसकी पढ़ाई की चिन्ता हुई। उन दिनों गुरुकुल ही पढ़ाई के केन्द्र होते थे। ब्राह्मणी जबाला जिस ग्राम में रहती थी उसके निकट महर्षि गौतम का आश्रम था। माता ने बालक को महर्षि के आश्रम का पता बताया और अकेले ही वहां प्रवेश लेने के लिए भेज दिया। माता के बताए अनुसार वह निर्भीक बालक महर्षि गौतम के आश्रम में जा पहुंचा। महर्षि के पास पहुंच उसने उनको प्रणाम किया और हाथ जोड़ के सामने खड़ा हो गया। महर्षि गौतम समझते थे कि बालक आया है तो पढ़ने के लिए ही आया होगा। फिर भी उन्होंने उसे अकेले ही आया देख कर पूछ लिया, "बालक, किस कार्य से आए हो ?"

"आपके चरणों में बैठ कर विद्याध्ययन करने की लालसा से उपस्थित हुआ हूं, महाराज।" उसने विनम्र वाणी में उत्तर दिया।

बालक का उत्तर सुन कर महर्षि प्रसन्न हुए। उन्होंने पूछा, "क्या नाम है तुम्हारा ?"

"सत्यकाम।" बालक ने उसी विनम्रता से उत्तर दिया।

"पिता का नाम क्या है ?" महर्षि ने दूसरा प्रश्न किया।

सत्यकाम के सम्मुख आज तक कभी पिता आए ही नहीं थे और न उसने कभी उनका नाम ही सुना था। उसने कभी अपने पिता के विषय में कुछ जाना ही नहीं था। सहसा महर्षि के मुख से पिता का नाम सुन कर वह विस्मित हुआ। किन्तु तुरन्त ही स्थिर हो कर उसने उत्तर दिया, "पिता का नाम तो मुझे ज्ञात नहीं है महाराज। मैंने कभी उनको देखा नहीं। मैं तो केवल अपनी मां को ही जानता हूं। उनका नाम जबाला है।"

महर्षि ने उसको समझाते हुए कहा, "पुत्र, यद्यपि तुम्हारे उत्तर से मैं सन्तुष्ट हूं फिर भी तुम अपनी माता के पास जाकर अपने पिता का नाम और कुल-गोत्र आदि पूछ कर आओ।"

बालक सत्यकाम इससे न तो निराश हुआ और न उसका उत्साह ही कम हुआ। वह अपनी माता के पास गया और उसने महर्षि के साथ हुए वार्तालाप का विवरण सुना कर पूछा, "माता जी, क्या नाम है मेरे पिता का ? आपने उनके विषय में तो मुझे कुछ बताया ही नहीं ?"



सत्यकाम की माता ने उसे समझाते हुए कहा, "बेटा, मैं तुम्हें तुम्हारे पिता के विषय में वताती भी तो क्या वताती, जवकि स्वयं मुझे ही मालूम नहीं है कि तुम्हारे पिता कौन हैं ? मैंने तो आज तक यात्रियों की सेवा में ही अपना जीवन विताया है। नित्य प्रति यात्री आते ही रहते हैं।"

अपनी माता के मुख से अपने पिता के विषय में अटपटा-सा उत्तर सुन कर सत्यकाम बोला, "किन्तु पिता का नाम जाने बिना तो कदाचित गुरुकुल में प्रवेश मिलना कठिन है ?" वालक को आशंका होने लगी थी।

उस की माता वड़ी ही सत्य बोलने वाली थी। उसको अपनी सत्यता पर वड़ा भरोसा भी था। अतः उसने वालक को समझाते हुए कहा, "बेटा, तुम महर्षि के पास एक वार फिर जाओ और उन्हें ठीक उसी प्रकार वता देना जिस प्रकार मैंने तुम्हें वताया है। उनसे कहना कि मेरी माता स्वयं मेरे पिता के विषय में नहीं जानती। इसलिए न तो मुझे अपने पिता का नाम मालूम है और न अपना कुल-गोत्र ही। प्रयत्न करके देख लो। कदाचित महर्षि इस वात को समझ कर तुम्हें अपने गुरुकुल में प्रवेश दे दें।"

सत्यकाम भी शीघ्र ही पराजय स्वीकार करने वाला वालक नहीं था। माता के समझाने पर वह फिर महर्षि के चरणों में उपस्थित हुआ। महर्षि ने उसे आया देख पूछा, "पूछ आए अपने पिता का नाम ?"

सत्यकाम बोला, "गुरुदेव। मेरी माता कहती हैं कि उनको भी मेरे पिता का नाम मालूम नहीं है। उनका जीवन तो यात्रियों की सेवा में ही बीतता रहा है। इसलिए वे मेरे पिता का नाम तथा कुल, गोत्र वताने में असमर्थ हैं।"

पुत्र और माता की इस प्रकार की सत्य के प्रति निष्ठा से महर्षि गौतम वहुत प्रभावित हुए। महर्षि ने सत्यकाम को शावासी देते हुए कहा, "बेटा, जो इस प्रकार निर्भय होकर अपनी वात सच-सच बता देता है वह निश्चित ही उच्च कुल की सन्तान हो सकता है। तुम्हारी माता का नाम जवाला है न? तो आज से तुम्हारा नाम हुआ "सत्यकाम जावाल"। यह जवाला ही अव तुम्हारा गोत्र हुआ। तुम्हारी वंश परम्परा अव जवाला नाम से जानी जाएगी। निस्संकोच मन से अव तुम इस आश्रम में अपनी पढ़ाई आरम्भ करो।"

इस प्रकार महर्षि गौतम ने सत्यकाम को अपने गुरुकुल में प्रवेश दिया और उसका उपनयन संस्कार आदि कर उसको चार सौ दुर्बल गायों के पालन-पोषण का भार सौंप दिया। महर्षि ने कहा, "जव तक इन चार सौ गायों की वंशवेलि वढ़ कर एक हजार हो तव तक तुम्हारी शिक्षा भी पूर्ण हो जानी चाहिए।" इसका अभिप्राय यही था कि सत्यकाम को पढ़ाई में कड़ी मेहनत करनी होगी और साथ ही गायों की देखरेख भी करनी होगी।

सत्यकाम लगन का पक्का था। उसने महर्षि के चरणों में प्रणाम करते हुए कहा, "महाराज आपकी कृपा और आशीर्वाद से मैं अपने कार्य को ठीक समय पर सम्पन्न कर लूंगा, ऐसा मेरा विश्वास है।"

शिष्य में विश्वास की भावना पा कर गुरु को बहुत प्रसन्नता हुई।

गुरुकुल के पूर्व की ओर जो वन था वह सत्यकाम को दे दिया गया। उस को शिक्षा देने के लिए विभिन्न विषयों के चार विद्वानों की नियुक्ति भी कर दी गई। वल्कि सत्यकाम ने स्वयं अपने लिए वहां कुटिया वनाई और फिर गौओं के पालन-पोषण के साथ-साथ अपनी पढ़ाई में भी जुट गया। जिस लगन से वह अपना अध्ययन करता था उसी लगन से वह गायों की सेवा भी करता।

गुरुकुलवासियों ने अनुभव किया कि ज्यों-ज्यों सत्यकाम का ज्ञान वढ़ता जा रहा है त्यों-त्यों गौओं की वंशवेलि वढ़ने के साथ साथ वे हृष्ट-पुष्ट भी होती जा रही हैं। महर्षि गौतम यह सव देख कर प्रसन्न होते थे। सत्यकाम जैसे वालक को शिष्य के रूप में पाकर उन्होंने अपने गुरुकुल को भी धन्य समझा।

जव तक गौओं की संख्या चार सौ से एक हजार तक पहुंची, सत्यकाम ने अपने चार विषयों की शिक्षा पूर्ण कर ली।

यथा अवसर सत्यकाम महर्षि के सम्मुख उपस्थित हुआ। उसने उनको प्रणाम कर कहा, "महाराज आपके द्वारा नियुक्त चारों विद्वान महापुरुषों का आशीर्वाद मुझे प्राप्त हो गया है तथा मुझे सौंपी गई गौओं की संख्या भी आपके कृपा-प्रसाद से एक सहस्त्र से अधिक हो गई हैं। वे सभी स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट हैं। दूध देने वाली गऊ यथानुकूल दूध भी देती हैं। इस पर भी यदि मेरे कार्य में किसी प्रकार की कोई त्रुटि रह गई हो तो कृपया आदेश कीजिए।"

सत्यकाम की विनम्रता, कार्यकुशलता, सत्य के प्रति निष्ठा और विद्या के प्रति अनुराग देख कर महर्षि गौतम वहुत ही प्रसन्न हुए। महर्षि ने उसे आशीर्वाद दिया और फिर उसे कुछ दिन अपने पास रख कर अपनी देख-रेख में विद्याओं में पारंगत कर दिया।

समय बीतने पर सत्यकाम ने अपनी विद्वता से सारे संसार में अपनी तथा अपने गुरु महर्षि गौतम की ख्याति फैला दी।

80-M/J(N)358MofI&B—6

गुदड़ी का लाल रैक्व

अशोक कौशिक

गुदड़ी में कभी किसी को लाल छिपा मिला या नहीं यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु यह कहावत पुराने जमाने से ही चली आ रही है। शायद यह कहावत ऐसे लोगों के कारण ही प्रचलित हुई होगी जैसा कि इस कहानी का रैक्व गाड़ीवाला था।

पुराने जमाने की बात है। उन दिनों जनश्रुति नाम का एक बहुत ही दानी राजा था। उसने नगर-नगर में स्थान-स्थान पर धर्मशालाएं बनवा दी थीं और अन्न के सत्र खुलवा रखे थे। अर्थात उसके राज्य में किसी अभ्यागत को न तो रहने के स्थान की कठिनाई होती थी और न खाने-पीने की।

एक बार की बात है कि मानसरोवर के कुछ हंस उड़कर जनश्रुति की राजधानी आए। संयोगवश रात के समय वे राजमहल की छत पर ही उतरे। उनमें से एक हंस ने अपने साथी से कहा, "तुमने इस राजा का तेज देखा? कितना तेजस्वी है यह राजा, उसके समीप मत जाना, कहीं तुम उसके तेज से जल न जाओ।"

उसका साथी बोला, "मालूम होता है कि तुमने उस गाड़ीवाले रैक्व को नहीं देखा है, तभी तुम इस राजा के तेज की प्रशंसा कर रहे हो।"

"कैसा तेजवाला है वह गाड़ीवाला?" पहले ने पूछा।

"अरे भाई उसकी महिमा का क्या बखान किया जाए। बस, उसकी तो समझो पांचों उंगलियां घी में हैं। वह तो बहुत ही ज्ञानी है और अपने ज्ञान के सहारे वह सारे संसार के प्राणियों का भला करता रहता है। इस कारण उसका चेहरा तेज से चमकता है।"

अपने महल की छत पर बैठे हंसों के इस वार्तालाप को महाराज जनश्रुति सुन रहे थे। उनके लिए रात बिताना कठिन हो गया। ज्यों ही सबेरा हुआ राजा ने अपने सेवकों को बुला कर कहा, "देखो, हमारे राज्य में कोई रैक्व गाड़ीवाला है। उसके पास जाओ और कहो कि हम उससे मिलना चाहते हैं।"

सेवकों को बड़ा विस्मय हुआ कि कहां तो गाड़ीवाला रैक्व और कहां महाराजा जनश्रुति। इससे भी विस्मय की बात कि उस गाड़ीवाले का कोई अता-पता भी नहीं था।

राजा से यह प्रतिप्रश्न तो किया नहीं जा सकता था कि उस गाड़ीवाले के विषय में आपने कहां सुना और क्या सुना। अस्तु, सारे विश्वस्त सेवकों की बैठक बुलाई गई और उसमें रैक्व गाड़ी-वाले के विषय पर विचार-विमर्श होने लगा। किन्तु किसी को भी उसका पता नहीं था।



जब किसी से कुछ पता नहीं चल पाया कि रैक्व गाड़ीवाला कहां रहता है और किसकी गाड़ी चलाता है तो चारों दिशाओं में उसकी खोज के लिए नौकर-चाकर, सैनिक आदि भेजे गए। राजधानी के आसपास के प्रत्येक गाड़ीवाले से पूछा गया। किन्तु न तो उनमें से ही कोई रैक्व था और न ही किसी को उसके विषय में कोई ज्ञान था।

राजधानी में जब इस गाड़ीवाले का पता कुछ नहीं चला तो राजधानी से बाहर उसकी खोज होने लगी। सभी नगर छान मारे पर कहीं रैक्व का पता नहीं चला। नगरों के बाद ग्रामों की बारी आई। किन्तु आश्चर्य की बात कि गांवों में भी कहीं से रैक्व गाड़ीवाले के विषय में कुछ मालूम नहीं हो सका।

महाराज को सूचना तो देनी ही थी। अतः डरते-डरते उनसे कहा गया कि रैक्व नाम के किसी गाड़ीवाले का कहीं पता नहीं है। राजा सोचने लगा कि उसके सेवकों ने नगरों अथवा ग्रामों में ही खोजा होगा। राजा के विचार से ऐसा विद्वान गाड़ीवाला या तो जंगल में होगा या किसी आश्रम में। तब महाराज ने अपने सेवकों से कहा, "आप लोगों ने उसको नगरों अथवा ग्रामों में खोजा होगा। किन्तु सुना है, वह तो बड़ा ज्ञानी-ध्यानी है। और ऐसे ज्ञानी-ध्यानी लोग नगरों अथवा ग्रामों में नहीं अपितु जंगलों या आश्रमों में रहा करते हैं। वहां उसकी खोज की जाए।"

महाराज से निर्देश मिलने पर जब खोज की गई तो सेवकों को सफलता मिल ही गई। कहीं दूर जंगल में एक गाड़ी के नीचे बैठा हुआ एक व्यक्ति अपना शरीर खुजला रहा था। राजसेवक उस के समीप गए। यद्यपि वह फटे हाल था किन्तु उसके चेहरे से तेज टपक रहा था। और फिर महाराज जिससे मिलना चाहते हैं उस से सभ्यता से ही बात करनी चाहिए, यह विचार कर राजा के सेवक ने पूछा, "महात्मा जी! क्या रैक्व आपका ही शुभनाम है?"

गाड़ीवाले ने अपनी गर्दन उठा कर पास खड़े सेवकों की ओर देखा। सिर हिलाते हुए उत्तर दिया, "हां नाम तो मेरा ही रैक्व है।"

राजा के सेवकों और सैनिकों को जब विश्वास हो गया तो वे वहां अधिक समय नहीं रुके। एक दो सेवकों को वहीं छोड़ शेष अपनी राजधानी की ओर कूच कर गए। महाराज को सूचना दी गई। रैक्व का पता ठिकाना मिल गया है, यह जान कर महाराज को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने हाथी घोड़ों में धन लदवाया, छः सौ गायें दान के लिए तैयार करवाई और स्वयं एक रथ पर सवार हो कर वे इस सब साज-सामान के साथ रैक्व की सेवा में उपस्थित हो गए।

रैक्व के समीप पहुंच कर राजा ने कहा, "प्रभो, यह तुच्छ भेंट ग्रहण कीजिए। यह मैं आपके लिए ही लाया हूं। इसे स्वीकार कीजिए और मुझे ब्रह्मज्ञान का उपदेश दीजिए।"

रैक्व ने इधर-उधर देखा। अपने चारों ओर भीड़ और साज-सामान देखकर उनको असन्तोष-सा हुआ। वे बोले, "यह आप अपने पास ही रखिए। मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है।"

राजा को सन्देह हुआ कि कहीं रैक्व इस भेंट को कम न समझ रहे हों। इसलिए वह फिर अपनी राजधानी आया और इस बार एक सहस्त्र गाएं और अन्य साज-समान से लदे अनेक रथ भर कर ले गया। अपनी युवती कन्या को भी वह इस बार अपने साथ ले गया।

एक बार फिर रैक्व के समीप पहुंच कर राजा ने विनम्र शब्दों में कहा, "प्रभो। यह तुच्छ भेंट स्वीकार कीजिए और मेरी कन्या का भी पाणिग्रहण कीजिए तथा मुझे ब्रह्मज्ञान का उपदेश देकर कृतार्थ कीजिए।"

रैक्व को यह बात सुन कर क्रोध आ गया। उन्होंने कहा, "अरे मूर्ख, इन वस्तुओं को तू अपने पास ही रख। तू क्या समझता है कि ब्रह्मज्ञान खरीदी जाने वाली कोई वस्तु है?"

इतना कह कर रैक्व फिर मौन हो गए। राजा को ध्यान आया कि रैक्व को यह सब प्रलोभन दे कर वह कितनी बड़ी भूल कर रहा है। ब्रह्मज्ञानी को इस सबसे क्या वास्ता। राजा के मन में ज्यों ही यह विचार आया तो वह नतमस्तक होकर वहीं बैठ गया।

राजा को अपने सम्मुख नतमस्तक देख रैक्व समझ गए कि राजा को अब अपने किए का पश्चाताप हो रहा है। बड़े ही सरलचित्त थे रैक्व। उन्होंने राजा को कुछ दिन अपने समीप रहने को कहा। राजा ने वह सब हाथी-घोड़े और रथ राजधानी वापस भेज दिए और वह स्वयं रैक्व की सेवा में वहीं जंगल में रहने लगा। इस प्रकार मुनि के पास रह कर उसने ब्रह्मविद्या सीखी।

मुनि के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए बाद में राजा ने उस सारे प्रदेश का नाम ही बदल दिया और उस का नाम 'रैक्वपर्ण' कर दिया।

साधारण बैलगाड़ी चलाने वाला भी उस जमाने में कितना विद्वान था। शायद तभी यह कहावत प्रसिद्ध हुई होगी कि "कभी-कभी गुदड़ी में भी लाल छिपे मिल जाया करते हैं।"

यक्ष की चुनौती

सुभाष सत्य

यह दूसरा रूप है इस सुप्रसिद्ध कहानी का। देवताओं और राक्षसों में एक बार बड़ी जोरदार लड़ाई हुई। लड़ाई में देवताओं ने राक्षसों को हरा दिया। जीत के बाद खुशी तो होती है, लेकिन देवता जब विजय के अहंकार में इतने ज्यादा फूल उठे कि उन्हें ईश्वर तक का ध्यान न रहा तो भगवान ने देवताओं का घमण्ड तोड़ने का निश्चय किया। इसके लिए उन्होंने एक योजना बनाई।

ईश्वर ने अपनी अजीब और बहुत बड़ी शक्ल बनाई और वे उस जगह जा पहुंचे जहां देवता जीत की खुशी में सोमरस का पान कर के नाचने-गाने में मस्त थे। जब देवताओं का उस तरफ ध्यान गया तो उनकी हैरानी का ठिकाना न रहा, क्योंकि उन्होंने इससे पहले इतनी अटपटी और विशालकाय शक्ल का आदमी कभी नहीं देखा था। देवताओं को अहंकार अवश्य हो गया था, पर वे अपने आपसे बेखबर नहीं हो गए थे। सभी ने एक दूसरे से प्रश्न किया कि यह कौन हो सकता है? विचार करने के बाद सब की यह राय बनी कि उसके बारे में जानने के लिए वायु देवता को भेजा जाए। वायु देवता फर-फर करता हुआ वहां पहुंचा और उसने पूछा "तुम कौन हो ?"

"मैं यक्ष हूं।"

"यहां किसलिए खड़े हो ?"

"देख रहा हूं कि देवता कितने कमजोर हो गए हैं।" वायु देवता को यह सुनकर जितना आश्चर्य हुआ, उससे अधिक गुस्सा आया।

वायु देवता उठा, "क्या कहा, हम दुर्बल हो गए हैं ? तुमने सुना नहीं, राक्षस हमारे नाम से भी कांपने लगे हैं ?"

"कांप रहे होंगे, पर तुम जरा इस तिनके को तो उड़ाकर दिखाओ।" यह कहते हुए यक्ष ने एक तिनका वायु के सामने फेंक दिया। वायु पूरे वेग से उड़ने लगा। जोर के अंधड़ और तूफान से समूचा ब्रह्माण्ड हिल-डुल गया पर वह तिनका चट्टान की तरह स्थिर रहा उड़ना तो दूर वह हिला तक नहीं।

जब वायु महाराज मुंह लटकाए लौट आए तो देवताओं में खलबली मच गई। सारा किस्सा सुनने के बाद यक्ष की शर्त पूरी करने के लिए अग्नि देवता को भेजा गया। अग्नि देव ने अपने समूचे तेज की सहायता से उस छोटे से तिनके को भस्म करने की कोशिश की। चारों ओर लप-लप करती आग धधक उठी, जिसके तेज और ताप से सारी प्रकृति स्वाहा होने लगी। परन्तु तिनका ज्यों का त्यों वहीं पड़ा रहा। वायु की तरह अग्नि देवता भी अपमानित होकर देव-मण्डप में लौट आया।



इन देवताओं की विफलता के बाद यक्ष की चुनौती का मुकाबला करने और अपने साथियों की बेइज्जती का बदला लेने के लिए जल देवता आगे बढ़ा। जल देवता ने अपने पूरे प्रवाह के साथ उस तिनके को बहा ले जाने का प्रयास किया पर समुद्रों के समुद्र पानी बहाने के बाद भी तिनका वहीं का वहीं रहा। हार कर जल देवता भी ढीले-ढीले कदमों से चलता अपने साथियों में जा मिला।

अन्त में देवराज इन्द्र ने स्वयं यह काम पूरा करने की ठानी। परन्तु जब इन्द्र अपना वज्र उठाए उस स्थान पर पहुंचा तो वहां कोई नहीं था। रहस्य को सुलझा पाने में कामयाब न हो सकने के कारण जब इन्द्र भी लज्जा का अनुभव करता हुआ लौट रहा था तो उनके मन में विचार आया कि यह यक्ष और कोई नहीं स्वयं सर्वशक्तिमान परमात्मा ही होंगे। देवराज ने अपने मन की बात अन्य देवताओं को बताई तो उनका भी माथा ठनका। वे समझ गए कि ईश्वर ने उनका अहंकार चूर करने के लिए यह खेल खेला है। तुरन्त सबने जाकर ईश्वर से क्षमा मांगी और वचन दिया कि वे हर स्थिति में संयम बरतेंगे और कभी घमंड नहीं करेंगे।

सिर का दान

रामभज मदान रचित

एक ऋषि थे। बड़े तपस्वी। दिन-रात तप में लीन रहते। कठिन से कठिन साधना करते। दूसरों की भलाई के काम और प्राणीमात्र की सेवा उनकी आदत बन चुकी थी। यहां तक कि पशु-पक्षी की भी वह बहुत सेवा करते। उन्हें खिलाते-पिलाते और दुलारते। दूसरों को मार कर खा जाने वाले हिंसक पशु भी उनके आश्रम के चारों ओर प्रेम और प्रीति से विचरते थे। सभी पशु-पक्षी उनके वात्सल्यमय प्रेम से इस तरह प्रभावित थे कि वे अपने स्वाभाविक वैर-भाव छोड़ कर परस्पर मिल-जुल कर रहते थे। हुआ यह कि वृत्रासुर नाम का एक राक्षस देवताओं को बहुत दुःख दे रहा था। उसने तो तमाम संसार को तरह-तरह की तकलीफें दी थीं। ऐसे असुर से सबकी रक्षा करने के लिए देवताओं ने वृत्रासुर से लड़ाई ठान ली। किन्तु वह असुर आसानी से मारा जाने वाला नहीं था। इसके लिए किसी तपस्वी ऋषि की पावन अस्थियों से एक वज्र अर्थात अस्त्र निर्मित करना आवश्यक था। इसके लिए सभी देवता मिलकर के इस ऋषि के पास आए। त्यागी तो थे ही, उन्होंने कहा, "जनता की रक्षा के लिए एवं आप सब देवताओं के जीवन की रक्षा के लिए मैं अपने प्राणों का कोई मोह नहीं करता।"

देवताओं ने 'धन्य हो–धन्य हो' कहकर उनका अभिवादन किया और उस तपस्वी ऋषि ने अपने शरीर की समस्त हड्डियों का सहर्ष दान कर दिया।

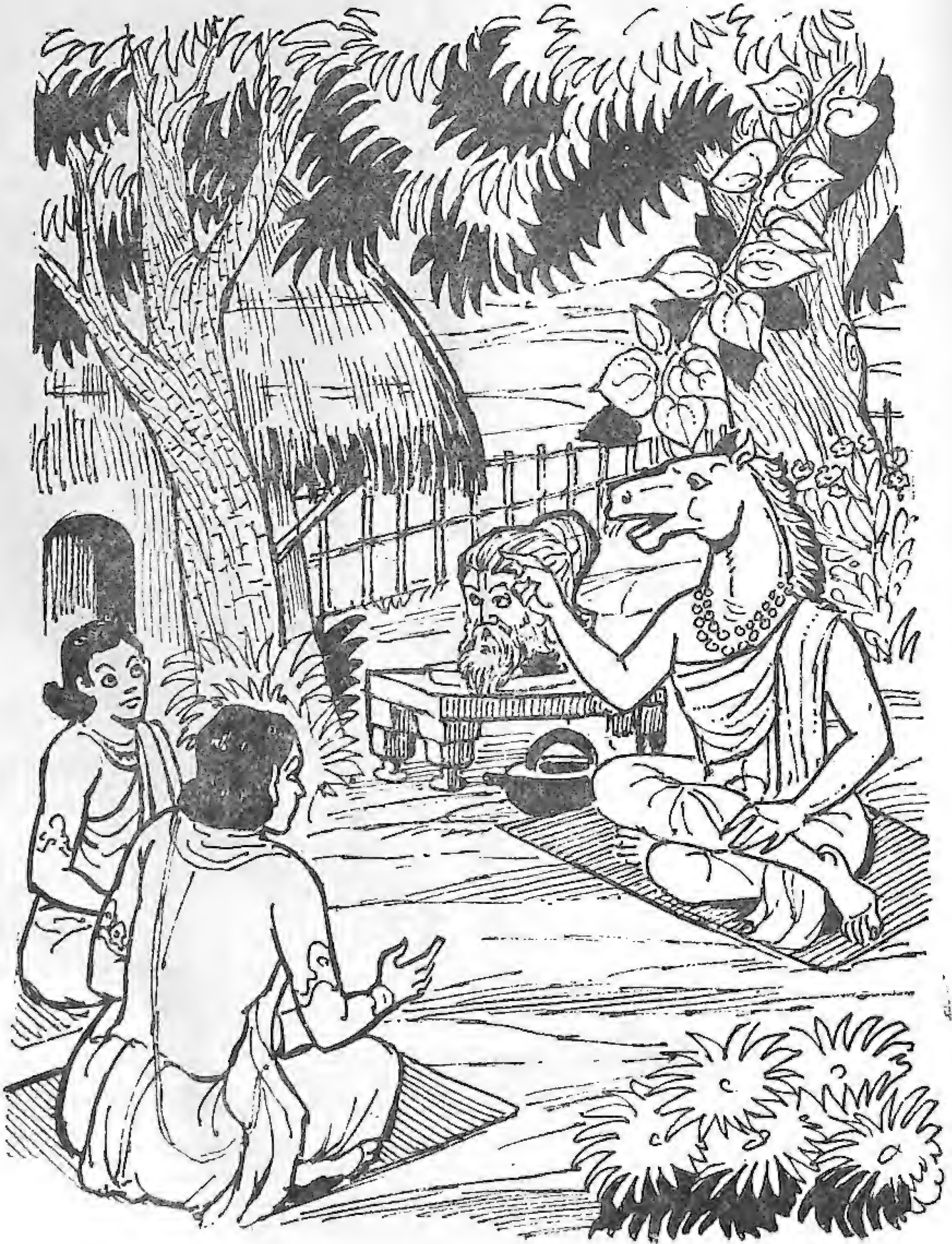
किन्तु यह तो बहुत बाद की बात है।

महर्षि दधीचि अपने आश्रम में विराजमान हैं। चारों ओर मंत्रोच्चार और वेद-पाठ हो रहे हैं। हवन कुण्डों से, स्वाहा-स्वाहा, की ध्वनि मुखरित हो रही है। दोनों ओर मन को शान्ति प्रदान करने वाली सुगंध-सौरभ वायुमण्डल पर तैर रही है। आश्रम के चारों ओर घने वृक्ष और लताएं मंद हवा में डोल रहे हैं। चारों ओर मन-भावने रंग-बिरंगे फूल खिले हैं। शान्ति और सुरभिमय वातावरण जीवन में आनन्द घोल रहा है।

अचानक अश्विनी कुमारों का आगमन हुआ। उन्होंने आते ही महर्षि दधीचि के चरणों में प्रणाम निवेदन किया। महर्षि बोले, "पधारिए अश्विनी कुमारो, आज मेरे आश्रम के अहोभाग्य हैं कि आप जैसी दिव्य विभूतियों के यहां चरण पड़े।"

अश्विनी कुमार बारी-बारी से आसन ग्रहण करने लगे। महर्षि ने फिर कहा, "कहो, आपका आने का उद्देश्य क्या है ? वह हमें निःसंकोच कह सुनाइए।"

अश्विनी कुमारों ने अपने आने का उद्देश्य स्पष्ट किया, "महाराज, आप समस्त विद्याओं के ज्ञाता हैं। आपकी कीर्ति अथवा यश चारों भुवनों में छाया हुआ है। हम आप के श्रीमुख से मधु विद्या के गूढ़ रहस्यों को जानना चाहते हैं। महाराज, जिस प्रकार घोर अंधकार में विद्युत के कड़कने के बाद मूसलाधार वर्षा होती है, उसी प्रकार अविद्या के अंधकार में मधु विद्या के उपदेश



के वाद मानव जाति के अन्तरात्मा में शान्ति की वर्षा होगी। हमारा तो कल्याण होगा ही, जग का भी कल्याण होगा। दधीचि ने उन अश्विनी कुमारों को सम्बोधन करते हुए कहा, "इन्द्र ने इस विद्या के रहस्य को किसी को वताने से इंकार किया हुआ है। किन्तु आपके मन में इनके रहस्यों को जानने की जिज्ञासा है तो कोई न कोई उपाय तो किया ही जाना चाहिए।" उन्होंने कहा, "हम आपका सिर इस प्रकार का बना देंगे कि इन्द्र आपको विलकुल पहचान नहीं पाएगा।" अश्विनी कुमारों ने दधीचि का सिर काट कर अलग रख दिया तथा एक अश्व का सिर (घोड़े का सिर) उसके स्थान पर लगा दिया। दधीचि ने अश्व के सिर से ही जिज्ञासु शिष्यों को मधु विद्या के रहस्यों का उपदेश देना प्रारंभ किया। जब वे उपदेश दे चुके तो इन्द्र ने आकर बिना देखे भाले उनका सिर काट दिया। तुरन्त ही अश्विनी ने दधीचि के अपने सिर को, जिसे उन्होंने संभाल कर रखा हुआ था, धड़ के साथ पुनः जोड़ दिया। शिष्य ज्ञानार्जन कर अपनी राह चलते बने।

इस प्रकार उस तपस्वी महात्मा ने जन-कल्याण के लिए अपना सिर तक कटवा देने का उदाहरण प्रस्तुत किया। निःसंदेह इस प्रकार का त्याग ही मानव-समाज का कल्याण कर सकता है।

सोने की ईंटें

अनिल

एक भिखारी था। भीख मांगने में वह वड़ा चतुर था। जितना चतुर था, उतना ही वड़ा कंजूस भी था। उसने भीख मांग-मांग कर वहुत-सा धन जमा कर लिया। धन जमा हो गया तो उसकी सुरक्षा की उसे चिंता सवार हुई। उसने सोचा; वहुत सोचा; आखिर निर्णय किया इस छोटी-सी झोंपड़ी में इतना धन जमा करके रखना ठीक नहीं। उस धन से उसने सोने की चार ईंटें खरीद लीं, उन ईंटों को उसने पास के जंगल में जाकर गाड़ दिया। अव वह निश्चिंत था। मन में खुशी थी कि धन सुरिक्षत है।

भिखारी भीख मांग कर लौटता तो जहां ईंटें थीं, उस जगह को जाकर देख लेता था। पहले एक वार देखता था, फिर धीरे-धीरे ईंटों का मोह वढ़ गया। वह दिन में कई वार उस जगह को देखता। पैर से जमीन को अच्छी तरह थपथपाता, ताकि मालूम पड़े, किसी ने ईंटों को उखाड़ा तो नहीं, जगह खोखली तो नहीं हो गई।

एक दिन किसी चोर ने वात ताड़ली। जव भिखारी ईंटों की जगह को देखकर लौट आया तो चोर ने पीछे से जाकर उस जगह को खोद डाला, सोने की ईंटें देख वह खुशी से उछल पड़ा। मन में कहने लगा यह तो वड़ा धनवान भिखारी निकला। चोर ने सोने की चारों ईंटें निकाल उनकी जगह मिट्टी की चार ईंटें रख, उस जगह को पहले की तरह समतल वना दिया।

भिखारी शाम को फिर ईंटें देखने आया, सुवह तो ऊपर की मिट्टी कड़ी थी, अव भुरभुरी मिट्टी देख उसे शंका हुई। उसने उस जगह को खोदा। सोने की ईंटों की जगह मिट्टी की ईंटें रखी थीं। भिखारी फूट-फूट कर रोने लगा, तभी उस रास्ते से एक महात्मा गुजरे। उन्होंने भिखारी को रोता देख, रोने का कारण पूछा। भिखारी बोला, "महात्मा जी, मैं लुट गया। मेरा सव कुछ चोरी हो गया। अब क्या होगा ?"

महात्मा यह सुन कर आश्चर्य में थे। देखने में वह फटे हाल था शरीर पर अच्छी तरह कपड़े भी नहीं थे। जाड़े में कांप रहा था, था भी भिखारी। महात्मा जी सोचने लगे—इसका क्या लुट गया, इसका क्या चोरी हो गया, यह तो भिखारी है ही। लगता है, कुछ गड़बड़ है। उन्होंने भिखारी के साथ हमदर्दी दिखाई। कहा, "रो नहीं, वता तेरा क्या लुट गया ? मुझे तो नहीं लगता तरे पास धन होगा।"

"हां महाराज, धन था, मैंने भीख मांग-मांग कर सोने की चार ईंटें जोड़ी थीं। उन्हें चोरी के डर से यहां गाड़ गया था, मगर वे ही चोरी हो गईं। चोर उन्हें ले गया, उनकी जगह मिट्टी की ये ईंटें रख गया।"

महात्मा ने पूछा, "वे सोने की ईंटें क्या तुम्हें रोज खाना देती थीं ?"



"नहीं महात्मा जी, भला ईंटें खाना कैसे देतीं, ईंटें तो जड़ होती हैं।" भिखारी बोला।

"तो फिर क्या देती थीं–कपड़ा, घोड़ा, गाड़ी, फल-फूल कुछ तो देती होंगी। उनका कुछ न कुछ उपयोग तो होगा ही, इसीलिए तो तुम इतने दुखी हो रहे हो," महात्मा ने पूछा।

भिखारी आंसू पोंछ कर बोला, "ईंटें देती तो कुछ नहीं थीं, बस उन्हें देखकर मन में संतोष हो जाता था।"

सुन कर महात्मा जी मुस्कराए। बोले, "जब सोने की ईंटें केवल देखने के ही काम आती थीं तब इन्हें भी देखकर काम चला लो। जैसे सोने की ईंटें देखीं, वैसे ही मिट्टी की, क्या अन्तर आता है?"

भिखारी कुछ सोचने लगा। उसके मन में अभी भी शांति नहीं थी। महात्मा ने फिर कहा, "सुख संतोष में है, लालच में नहीं। सोने की ईंटें तुम्हारे पास केवल थीं, काम कुछ नहीं आती थीं। ईंटें अब भी हैं, तुमने सोने की ईंटें भी मिट्टी में गाड़ रखी थीं। विचार करो और संतोष कर सुखी बनो।"

भिखारी के बात समझ में आ गई। उसने महात्मा जी को नमस्कार किया और भिक्षा मांगने वाला कटोरा उठा कर अपनी राह पर चला गया।

हम सब एक हैं

डा० वसन्त यामदग्नि

बात बहुत पुरानी है । एक ऋषि थे उद्दालक आरुणि । इनका एक पुत्र था । इसका नाम था श्वेतकेतु । बचपन से ही श्वेतकेतु खेल-कूद में मस्त रहता । पढ़ना-लिखना उसे अच्छा न लगता । उसके इस स्वभाव को देख ऋषि सदा चिंतित रहते । धीरे-धीरे श्वेतकेतु की आयु बढ़ने लगी, परन्तु खेल-कूद से उसका मन न भरा ।

एक दिन ऋषि आरुणि ने पुत्र को समझाने की बात सोची, पर वे कोई उपदेश भी उस पर थोपना न चाहते थे । अन्त में उन्होंने फैसला किया कि बालक के मन में पढ़ने-लिखने की रुचि पैदा की जाए । जिससे एक दिन वह स्वयं ही पढ़ने-लिखने लगेगा । यह सोच कर श्वेतकेतु की संगत बदलने का प्रयास किया गया । उसके साथी पढ़ते-लिखते थे । वेदों का पाठ करते थे और समय पर खेलते-कूदते भी थे । इनके साथ रहकर श्वेतकेतु भी अब कभी-कभी ऋचाओं को गुनगुनाने लगा था । कभी उनके अर्थों को जानने का प्रयास भी करने लगा था । किसी विषय पर साथियों में बहस छिड़ जाती तो उसमें हिस्सा भी लेता – पर अधिकतर मात खा बैठता । झल्ला कर एक दिन वह संकल्प कर बैठा – "मैं पढ़ूंगा, वेदपाठी बनूंगा और ज्ञानचर्चा में अपने साथियों में सबसे आगे रहूंगा – सबसे सम्मान पाऊंगा ।"

उसकी यह लालसा धीरे-धीरे बढ़ने लगी । एक दिन पढ़ाने के लिए पिता के सामने प्रार्थना की । ऋषि आरुणि तो पहले ही ऐसा चाहते थे । उन्होंने श्वेतकेतु को तुरन्त एक ऋषि के आश्रम में भेज दिया । मन में वे बड़े प्रसन्न थे, क्योंकि अब उनका पुत्र वेदों का ज्ञाता बन सकेगा ।

ऋषिकुल में श्वेतकेतु की पढ़ाई आरम्भ हुई । स्पर्धा के कारण श्वेतकेतु भी मन लगा कर पढ़ने लगा । इस प्रकार बारह वर्ष बीत गए । श्वेतकेतु ज्ञान-विज्ञान में निपुण हो गया । चारों वेदों का वह अच्छा पण्डित बन गया । एक दिन मन ही मन वह सोचने लगा, 'मैं वेद-शास्त्रों का ज्ञाता बन चुका हूं । गुरुजी भी मेरे ज्ञान की बड़ाई करते हैं । सभी सहपाठी मेरा लोहा मानते हैं, तब क्यों न अब मैं सबको शास्त्रार्थ के लिए ललकार दूं । सबको हरा कर महापण्डित बनूंगा ।' इन विचारों में वह खोया ही था कि उसे बचपन की एक घटना याद आ गई । उस दिन एक साधारण-सी चर्चा में उसे अपने साथियों से मात खानी पड़ी थी । कितनी कड़वाहट थी उस स्मृति में । उसने निश्चय किया कि अब वह उन सब को ज्ञान-चर्चा में छटी का दूध याद करा देगा । सबका सम्मान पाएगा ।

इस प्रकार ज्ञान के साथ श्वेतकेतु को घमण्ड ने भी आ दबोचा । गुरुआश्रम छोड़ने के लिए वह तैयार हो गया । अचानक एक दिन वह अपने घर भी आ पहुंचा । अपने ज्ञान के गरूर में वह साधारण व्यवहार भी भूल बैठा । ऋषि आरुणि ने उसके आचरण को देखा तो वे तुरन्त समझ गए कि श्वेतकेतु की शिक्षा अभी अधूरी ही है । कारण, विद्या तो विनयी बनाती है । श्वेतकेतु तो प्रणाम करना भी भूल गया । वे बहुत क्षुब्ध हुए, परन्तु थे शान्त – बिलकुल शान्त । न माथे पर कोई



त्यौरी, न वाणी में कोई आक्रोश । सहजभाव से वे उससे पूछने लगे – "हे श्वेतकेतो ! तू बारह वर्ष बाद विद्या पढ़कर घर लौटा है । सब कुछ तूने जाना है । वेद और उपनिषद तुझे याद हैं। परन्तु क्या तू मुझे एक प्रश्न का उत्तर दे सकता है ?"

जैसे ही पिता आरुणि ने प्रश्न किया, श्वेतकेतु का अभिमान आसमान को छूने लगा । मन ही मन वह सोचने लगा – 'मेरे ज्ञान के आगे पिताजी का छोटा-सा प्रश्न भला कहां ठहरेगा ?' वह तपाक से बोला – "पिताजी ! क्या मेरे ज्ञान में अब भी आपको सन्देह है ? मैंने बारह वर्ष लगातार शास्त्र पढ़े हैं । अब शास्त्रार्थ में भी मुझे कोई हरा न सकेगा । आप जो पूछना चाहें, पूछ लें । मैं सब कुछ जानता हूं ।"

श्वेतकेतु के स्वर में दर्प था । उसकी बुद्धि अभिमान में चूर थी । शायद इसीलिए वह ऋषि आरुणि की गरिमा को भी न समझ सका । आरुणि भली प्रकार जान गए थे कि श्वेतकेतु ने जो कुछ पाया है, उसके पीछे घमण्ड होने के कारण – अधूरा है । यह अभिमान जब नष्ट होगा, तभी इसके हृदय में ज्ञान का प्रकाश होगा । ऐसा वे सोच ही रहे थे कि श्वेतकेतु फिर बोला – "पिताजी पूछिए न ? क्या पूछ रहे थे ?"

ऋषि आरुणि पहले तो श्वेतकेतु की ओर देखते रहे, फिर कुछ धीमे-से स्वर में बोले – "कुछ नहीं बेटा – बस, मैं तो यही जानना चाहता था कि संसार में वह एक वस्तु क्या है, जिसके जानने से सबका ज्ञान हो जाता है ।"

श्वेतकेतु ने पिता का प्रश्न सुना और सोच में पड़ गया । वह एक वस्तु क्या हो सकती है – उसकी बुद्धि ने बार-बार जोर लगाया परन्तु उसकी समझ में कुछ न आया । धीरे-धीरे बहुत कुछ जानने का उसका अभिमान भी काफूर होने लगा । अन्त में जब उसे पिता के प्रश्न का कोई उत्तर न सूझा तब वह विनत हुआ । ऋषि आरुणि से ही उसका उत्तर जानने की प्रार्थना करने लगा । गिड़गिड़ाता अपने पिता के चरणों में पड़ गया । हाथ जोड़ कर वह उनसे कहने लगा – "भगवन् ! जिस एक वस्तु को जानने से सब जानी जा सकती हैं, उसे मैं नहीं जानता । मेरा ज्ञान, लगता है, अभी अधूरा ही है । कृपा करके अब उसे आप ही मुझे बताइए ?"

ऋषि आरुणि ने श्वेतकेतु को दुलारते हुए कहा – "वत्स ! यह वस्तु ही सत्य है । एक बार सत्य के स्वरूप को पहचान लेने से शेष जानने को संसार में कुछ भी नहीं रहता ।"

श्वेतकेतु के लिये बात कुछ कठिन थी । वह फिर बोला – "पिताजी संसार तो रंग-बिरंगा है । यहां तरह-तरह की वस्तुएं हैं, तरह-तरह के जीवन हैं । सबका परिचय भी अलग-अलग है । परन्तु आप कहते हैं कि इन सब का परिचय केवल सत्य को जानने मात्र से सम्भव है । मेरी समझ में बिलकुल नहीं आया, प्रभो ।"

"हां वत्स । मैं फिर भी यही कहता हूं " – ऋषि बोले, "सत्य एक है । उसके रंग अनेक हैं । एक बार यह बात समझने से सब बात साफ हो जाती है, प्रियदर्शन ।"

श्वेतकेतु के लिए बात वहीं की वहीं थी । चर्चा को आगे बढ़ाते हुए वह फिर बोला–– "पूज्यवर ! क्षमा करें । आपके हाथ की अंगूठी और इस कन्या के गले का हार दोनों अलग-अलग नहीं हैं क्या ?"

"पुत्र, यही तो मैं तुम्हें वताना चाहता था। तुमने जिसे दो कहा वह एक ही स्वर्ण के दो रूप हैं। वस्तु एक है – स्वर्ण और उसके कार्य दो हैं, हार और अंगूठी। कारण जव सामने है तो कार्य भी सामने ही हैं।"

इस वार श्वेतकेतु की विचार-मुद्रा गम्भीर हुई। उसे समझाते हुए उद्दालक आरुणि फिर बोले, "हे वालक! यह नाम, रूप और क्रिया स्वरूप जगत में दिखाई देनेवाला अलग-अलग रूप एक ही सत्य का भिन्न-भिन्न आभास है। सत्य तो एक ही था, एक ही है और एक ही रहेगा। सत्य रूप ब्रह्म के संकल्प से तेज उत्पन्न हुआ, फिर जल उत्पन्न हुआ और उसके वाद अन्न उत्पन्न हुआ। जगत की सभी वस्तुएं तेज, जल और अन्नमय हैं। जहां प्रकाश है, वहां तेज तत्व है, जहां द्रव है, वहां जल तत्व है और जहां कठोरता है वहां अन्न अथवा पृथ्वी तत्व है।"

"परन्तु पिताजी! प्रकाश रूप अग्नि में भी तो अनेक रंग हैं?" श्वेतकेतु ने प्रश्न किया।

"हां वत्स। अग्नि में लालिमा तेज की है। सफेदी जल की है और श्यामता पृथ्वी की है। इसी प्रकार अन्न की तीन क्रियाएं हैं – विष्टा, मांस और मन। इसी प्रकार जल के स्थूल भाग से मूत्र, मध्यम भाग से रक्त और सूक्ष्म भाग से प्राण वनता है" – ऋषि आरुणि ने उसे समझाते हुए वताया।

"तव तो श्रद्धेय! मन अन्न से वनता है, प्राण जल से और वाणी तेज से" – श्वेतकेतु ने ऋषि से फिर पूछा।

"हां श्वेतकेतु। तुमने ठीक ही समझा है। सव का मूल सत ही है।"

ऋषि के वताने पर श्वेतकेतु और भी गम्भीर हो गया। वह फिर बोला – "तव तो देव प्राणी-प्राणी एक ही सत्य का स्वरूप हैं।"

आरुणि बोले – "यही तो सत्य है और यह सत्य अणु की भांति सूक्ष्म है। जगत में आत्म-रूप है। वाहरी भेद केवल दिखावटी है, मिथ्या है।"

श्वेतकेतु की बुद्धि दर्पण की तरह निर्मल होती जा रही थी। धीरे धीरे विषय की गम्भीरता उसकी समझ में आती जा रही थी। अपनी वात को साफ करते हुए वह फिर बोला – "देश, काल और धर्म सम्प्रदाय के नाम पर संसार में जो भेद किया जाता है, वह भी असत् ही है न पिताजी?"

"हां तुम ठीक कहते हो श्वेतकेतु! शहद में अनेक वृक्षों का रस होता है परन्तु वह रस अलग-अलग होकर यह नहीं जानता कि मैं किस वृक्ष का रस हूं। इसी प्रकार जीव की दशा है। वह सत का ही रूप है, सत के एक भाव प्राप्त करता हुआ भी अज्ञान की स्थिति में सत को नहीं जानता इसीलिए आपस में भेद मानता है। अन्यथा जो सूक्ष्म है, वही आत्मा है और जो आत्मा है, वही परमात्मा है – यानी सत है। यही सत सम्पूर्ण सृष्टि का ज्ञान है।"

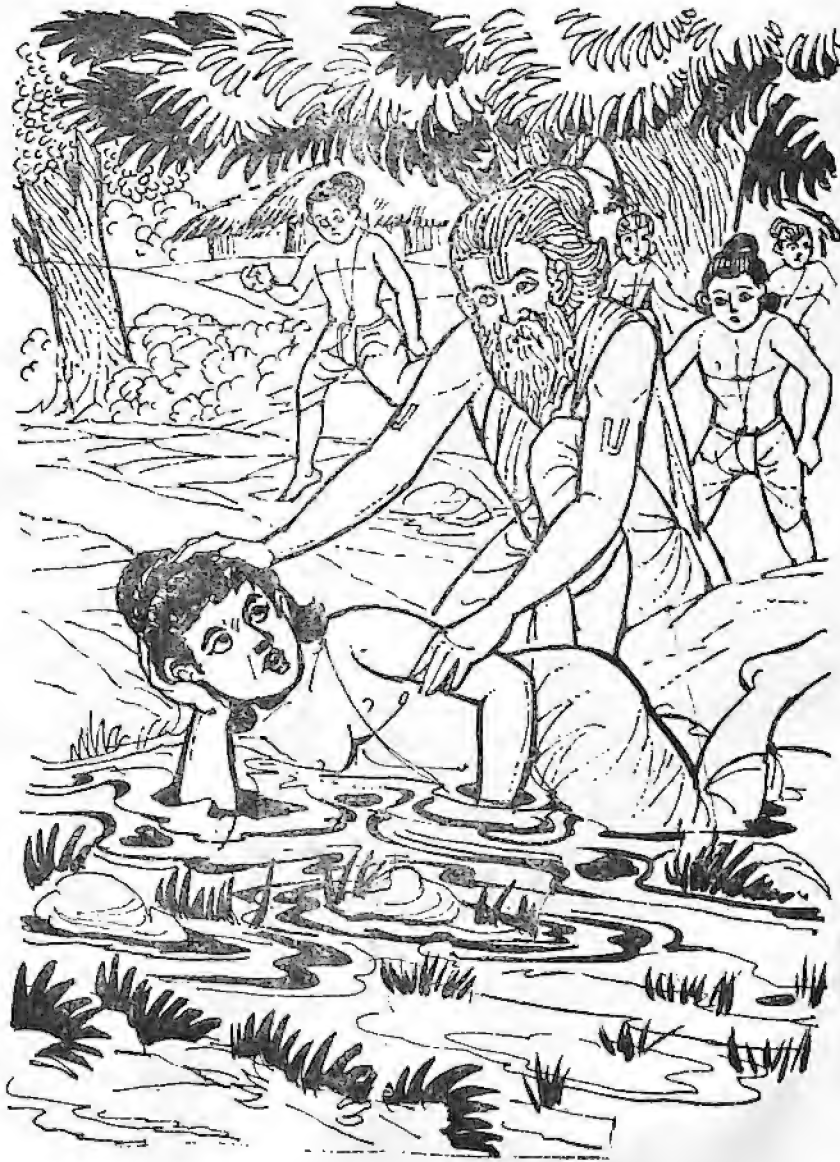
पिता के उत्तर को सुनकर श्वेतकेतु अनायास ही कह उठा – "तव तो हम सव एक हैं।"

इस पर ऋषि आरुणि का समर्थन था – "हां हम सव एक हैं।"

द्वितीय खंड

(लघुकथाएं)

मृदुला सिन्हा





आरुणि

मेरा नाम आरुणि है। मैं महर्षि धौम्य के आश्रम में रहता था। मेरे अनेक मित्र आश्रम में एक साथ रहते थे। गुरुदेव हमें शास्त्र-विद्या एवं शस्त्र-विद्या के साथ-साथ अपना सारा काम स्वयं करना सिखाते थे।

हमारा आश्रम बड़ा ही सुहावना था। चारों तरफ हरियाली थी। फल-फूल सजे थे। हम सुबह ब्रह्ममुहूर्त के पहले उठते थे। स्नान-ध्यान के बाद हम उन वृक्षों की सिंचाई करते, नए पौधे लगाते एवं पके हुए फल तोड़कर जलपान करते थे। आश्रम के खर्च के लिए अन्न भी हम वहीं उपजाते थे।

एक दिन गुरुदेव ने मुझे आज्ञा दी– बेटा अपने धान के खेत की मेंड़ टूट गई है। उसे आज रात में ही बांधना जरूरी है। तुम जा कर उसे बांध दो।

मैंने कहा–जो आज्ञा, और दौड़ता हुआ धान के खेत तक पहुंच गया।

भारी वर्षा हो रही थी। वहां पानी की धारा बड़ी तेज थी। मैंने दूसरे खेत से मिट्टी लेकर डालना शुरू किया। मैं मिट्टी डालता और सारी मिट्टी तेज धार में बह जाती। तेज धार से कई बार मैं भी खेत में गिर गया। मेरा शरीर पूरा भीग गया। संध्या होने को आई। मैं मेंड़ पर थोड़ी भी मिट्टी नहीं डाल सका। मैं आश्रम लौटकर दूसरे साथियों को सहायतार्थ बुलाने जा रहा था परन्तु मेरे मन में यह विचार आया कि गुरुदेव ने तो अकेले ही मुझे भेजा था। फिर मुझे ही उस काम को पूरा करना चाहिए।

मैं पुनः मिट्टी डालने की कोशिश करने लगा। लेकिन सारा प्रयत्न बेकार गया। मैं वहीं मेंड़ पर लेट गया। मेरे लेटने से पानी का वेग थम गया। धान बच गया। मैं ठंड से कांप रहा था। लेकिन मन बड़ा प्रसन्न था। मैंने गुरुजी की आज्ञा का पालन किया था। अपने आश्रमवासियों के लिए अन्न भी बचाया था।

सुबह हुई। गुरुजी अन्य शिष्यों के साथ वहां मुझे ढूंढ़ने पहुंचे। वे जोर-जोर से मेरा नाम पुकार रहे थे। मेरे कान में उनकी आवाज पहुंची। लेकिन मैं उठता कैसे? पानी की धार तेज हो जाती।

गुरुजी मेरे नजदीक आए। वहां आकर भी मेरा नाम पुकारा। मैंने कहा–मैं यहां हूं गुरुदेव।

सब मेरे पास दौड़कर आए। गुरुदेव ने मुझे उठाकर हृदय से लगा लिया और मेरे फूलने-फलने एवं यशस्वी बनने की कामना की।

अर्जुन

कृष्ण : मित्र अर्जुन ! आचार्य द्रोण तुम पर ही अधिक स्नेह क्यों रखते थे ?

अर्जुन : मैं पूरा वृत्तांत सुनाता हूं। हम पांचों भाई और हमारे चाचा धृतराष्ट्र के भी पुत्र उनके शिष्य थे। आचार्य द्रोण हमें अनेक शस्त्र चलाना सिखा रहे थे। उन्होंने हमें शास्त्रों का भी ज्ञान कराया। उस समय उनके पास दूर-दूर से राजकुमार धनुर्विद्या तथा अन्य शस्त्रविद्या सीखने आते थे। गुरुदेव ने सभी को एक दिन शस्त्र-परीक्षा के लिए बुलाया। उन्होंने एक गीध वनवाकर वृक्ष के अग्रभाग पर रख दिया था। शिष्यों से बोले–"तुम लोग उस गीध को बेंधने के लिए धनुष पर वाण चढ़ाओ। मैं वारी-वारी से सभी का नाम पुकारूंगा।"

गुरुदेव ने सवसे पहले युधिष्ठिर से पूछा, "तुम गीध को देख रहे हो?" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "मैं गीध को, आपको और अपने भाइयों को देख रहा हूं।"

गुरुदेव ने उन्हें बैठ जाने को कहा। उन्होंने एक-एक कर सभी छात्रों को बुलाया। लेकिन किसी ने भी उनकी इच्छा पूरी न की। अंत में उन्होंने मुझे बुलाया। मुझे भी धनुष पर वाण चढ़ाकर गीध को देखने के लिए कहा। दो घड़ी वाद मुझसे भी उन्होंने पूछा–

"अर्जुन ! क्या तुम उस वृक्ष पर बैठे गीध को, वृक्ष को और मुझे भी देख रहे हो?"

मैंने कहा, "नहीं गुरुदेव ! आपने गीध का सिर उड़ाने को कहा है। अतः मैं केवल गीध का सिर देख रहा हूं।" उन्होंने आज्ञा दी, "चलाओ वाण" और मैंने वाण चला दिया। गीध का सिर उड़ गया।

गुरुदेव वड़े प्रसन्न हुए और मुझे हृदय से लगाकर आशीर्वाद दिया।

कृष्ण : "तुम एकाग्रचित्त थे। तुम्हारी एकाग्रता ने तुम्हें धनुर्विद्या में अग्रणी रखा। अपने विद्यार्थी जीवन की कोई और घटना सुनाओ।"

अर्जुन : हम लोग एक बार गुरुदेव के साथ गंगा नदी में स्नान करने गए। गुरुदेव की पिंडली को किसी मगर ने पकड़ लिया था। वे अपने को छुड़ा सकते थे लेकिन शिष्यों की परीक्षा के लिए चिल्लाए–"मुझे वचाओ। इस मगर को मारो।" मैंने उनकी आवाज के साथ ही पांच वाणों से उस मगर को बेंध दिया। गुरुदेव का पांव छूट गया। हमारे सभी मित्र हक्के-वक्के रह गए।

गुरुदेव ने मुझे हृदय से लगाया और ब्रह्मशिर नामक अस्त्र देते हुए कहा– "यह सब अस्त्रों से वढ़कर है तथा इसे धारण करना भी कठिन है। तुम इसे धारण करो। संसार में दूसरा कोई पुरुष तुम्हारे समान धनुर्धर नहीं होगा।"

कृष्ण : अब मैं समझ गया। तुम अपने कार्य में तत्पर भी रहते थे। यही कारण था कि सफलता तुम्हारी मुट्ठी में थी। एकाग्रता, तत्परता और गुरुभक्ति तुममें भरी हुई थी।



भरत

भरत : मेरा नाम भरत है।

मित्र : क्या तुम्हारे ही नाम से हमारे देश का नाम भारतवर्ष पड़ा ?

भरत : हां ! मेरे ही नाम से यह देश भारतवर्ष कहलाया।

मित्र : क्या तुम वचपन से ही वीर ग्रौर प्रतापी थे ?

भरत : हां। "मेरे वाल्यकाल में ही ग्राश्रमवासी मेरे खेल एवं व्यवहार से मुग्ध हो जाते थे। मेरी मां से कहते–"ग्रापका वालक वड़ा हो कर चक्रवर्ती सम्राट वनेगा।"

मित्र : तुम राजदरवार छोड़ ग्राश्रम में क्यों रहते थे ?

भरत : मैं महर्षि कण्व के ग्राश्रम में ग्रपनी माता के साथ रहता था। मेरी माता का नाम शकुन्तला था। वह उसी ग्राश्रम में पली थीं। ग्राश्रम के चारों ग्रोर सुन्दर-सुन्दर फल-फूल के वृक्ष थे। वड़ी दूर तक जंगल फैला था। वड़े-वड़े जंगली वृक्ष भी थे। जंगल में मेरी मां ग्रौर मैं घूमने जाते थे। वहां के छोटे-वड़े वाघ, सिंह, हाथी, भैंस, वराह मेरे मित्र थे।

मित्र : क्या कहा ? वे हिंसक पशु तुम्हारे मित्र थे ?

भरत : हां भई ! तो डरते क्यों हो ? ग्रभी तो वे पशु यहां नहीं ग्रा रहे हैं ?

उनमें कुछ ऐसे शेर के बच्चे थे जो वचपन से मेरे साथ पले थे। मेरी मां सभी को एक साथ दूध देती। मैं उनके साथ खेलता, खाता एवं जंगल में घूमा करता। उनके माता-पिता मेरी मां से भी स्नेह रखते। मां भी उनके बीच पली थीं। शेर के छोटे-छोटे वच्चों के दांत गिनकर मैं मां को दिखाता।

हाथियों की सूंड के सहारे उनकी पीठ पर बैठ जाता। वे मुझे जंगलों में घुमाने ले जाते।

मैं वड़े-वड़े पशुग्रों को पकड़कर ले ग्राता। मां को दिखाता ग्रौर ग्राश्रम के बड़े वृक्ष से बांध देता। मेरी मां यह सव देख कर वड़ी खुश होती। मुझे प्यार करती ग्रौर गोद में बैठा लेती।

मित्र : क्या कोई पशु तुम्हारा विरोध नहीं करता था ?

भरत : जो विरोध करते थे वे वड़े शक्तिशाली होते थे। मैं उन पर भी सवारी करता था। उन्हें जंगल में इतना दौड़ाता कि वे थक कर शांत हो जाते।

मित्र : क्या ग्राश्रम के ग्रासपास केवल हिंसक पशु ही रहते थे ?



भरत : नहीं, आश्रम के आसपास ऋषि-मुनि भी थे। जंगल में राक्षस और पिशाच भी थे। जो राक्षस ऋषि-मुनियों की तपस्या भंग करते, मैं उनको मार देता था। एक दिन एक भयंकर राक्षस मुझे मारने आया। मैंने उसे दोनों हाथों से पकड़कर दबाया। वह अपने को छुड़ा नहीं सका। भयंकर स्वर से चिल्लाया। उसके चीत्कार से मृग और सिंह आदि जंगली पशु मल-मूत्र त्यागने लगे। उसे घुटनों से मार-मारकर मैंने खत्म कर डाला। राक्षसों ने आश्रम में आना ही छोड़ दिया। आश्रम के ऋषियों ने मेरा नाम सर्वदमन रखा।

मित्र : क्या तुम पढ़ाई-लिखाई नहीं करते थे?

भरत : महर्षि कण्व ने बारह वर्ष की आयु में ही मुझे समस्त शास्त्रों और सम्पूर्ण वेदों का ज्ञान करवाया। मां के साथ मुझे पिता के पास भेज दिया। मेरे पिता का नाम राजा दुष्यन्त था। मेरे पिता ने मुझे युवराज बनाया। अब मेरा नाम भरत रखा। मैं बड़ा होकर चक्रवर्ती राजा बना।

भीमसेन

मित्र : भीमसेन क्या तुम जन्म से ही वलशाली थे ?

भीम : हां। मैं मां के गर्भ से ही वलवान था। मेरा शरीर वज्र के समान कठोर था। मेरी मां ने मेरे वचपन की एक घटना सुनाई थी। जव मैं मात्र दस दिन का था, मेरी मां मुझे गोद में लिए बैठी थीं। एक वाघ गुफा के पास ग्रा गया था। उसे मेरे पिता कुरुश्रेष्ठ पाण्डु ने तीन वाणों से मार डाला था। उसकी गर्जना से मेरी मां भयभीत हो गई ग्रौर मैं उनकी गोद से नीचे पत्थर पर गिर पड़ा। वह पत्थर मेरे शरीर के भार से चूर-चूर हो गया। मेरे पिता को वड़ा ग्राश्चर्य हुग्रा था।

मित्र : वचपन में तुम से कोई भी साथी किसी खेल में विजयी नहीं होता होगा ?

भीम : मेरे एक-दो मित्र नहीं थे ? मेरे चाचा धृतराष्ट्र के एक सौ पुत्र थे। हम पांच भाई थे। युधिष्ठिर, भीम, ग्रर्जुन, नकुल एवं सहदेव। चचेरे सौ भाइयों में दुर्योधन ग्रौर मेरा जन्म एक ही दिन हुग्रा था। हम सव साथ-साथ खेलते थे।

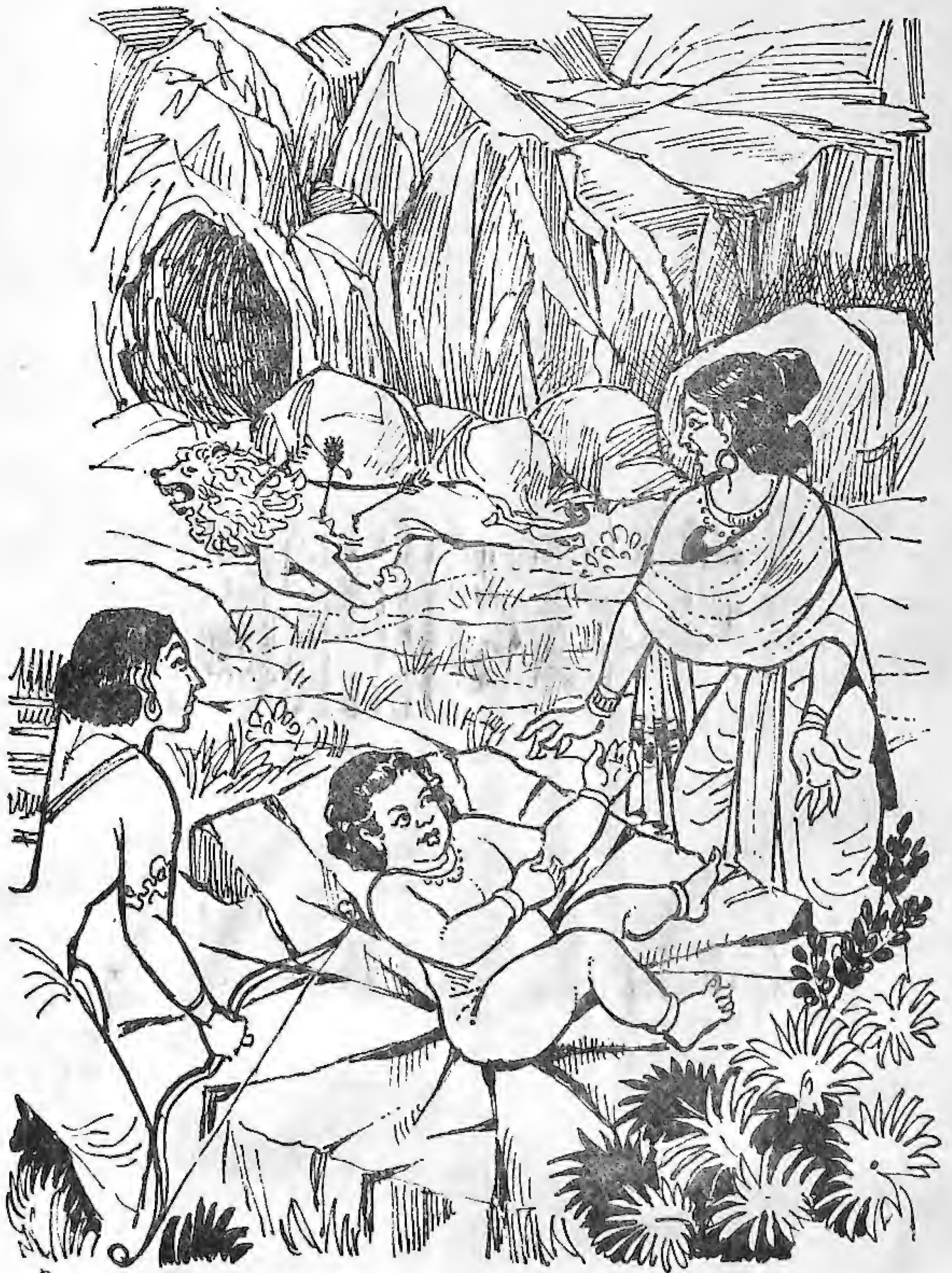
मैं सदा विभिन्न खेलों में, खाने-पीने में तथा धूल उछालने, दूसरे लड़कों से कोई सामान छीन लेने में सवसे ग्रागे रहता। दुर्योधन मुझसे ईर्ष्या करता था। वह ग्रपने भाइयों के साथ मुझे डराना चाहता था। लेकिन कभी सफल न हुग्रा। वे सव शक्तिशाली थे। लेकिन जव वे मेरे पास पहुंचते मैं उनके सिर ग्रापस में टकरा देता ग्रौर स्वयं वाहर निकल भागता। मैं जल में गोते लगाते समय उनमें से दस को पकड़ लेता ग्रौर काफी देर तक गोते लगाता। जव उनका दम छूटने लगता तव उन्हें वाहर निकालता।

जव कौरव पेड़ पर चढ़कर फल तोड़ते, मैं ग्रपने पैर से ठोकर मारकर पेड़ को ही हिला देता। वे गिरने के भय से चिल्लाने लगते ग्रौर फलों सहित नीचे गिर पड़ते।

मित्र : तुमसे तो कौरव ईर्ष्या करते होंगे ?

भीमसेन : मैं उनसे द्वेष नहीं रखता था। मैं स्वभाववश ही ऐसा करता था। लेकिन दुर्योधन के मन में ईर्ष्या का भाव ग्रा गया था। उसने ग्रपने भाइयों सहित मुझे कैद करने की योजना वनाई।

एक वार मुझे गंगा तट पर जल-विहार के लिए ले गए। वहां एक महल ग्रौर वड़ा-सा वागीचा था। हम लोग वहां घूम-फिर रहे थे ग्रौर दुर्योधन द्वारा वनवाए गए भोज्य पदार्थ एक दूसरे के मुंह में डाल रहे थे। दुर्योधन ने मेरे मुंह में भोजन



डाला जिसमें कालकूट नामक विष मिश्रित था। भोजन के वाद मैं मूर्छित हो गया। दुर्योधन एवं उनके अन्य भाइयों ने मिलकर मुझे कसकर वांध दिया और गंगा में डाल दिया। मैं नाग लोक पहुंच गया।

वहां मेरे शरीर के भार से कई नागकुमार दव कर मर गए।

मित्र : फिर तो उन्होंने तुम्हें डस लिया होगा ?

भीमसेन : उन्होंने वड़ी-वड़ी भयंकर विषवाली दाढ़ों से खूव डसा। लेकिन उनके विष के कारण कालकूट नामक विष का प्रभाव नष्ट हो गया। मैं जाग उठा। कई सर्पों को धरती पर पटक कर मार डाला। सभी नाग भयभीत हो गए और अपने राजा वासुकी के पास गए। नागराज ने मुझे पहचान लिया। उन्होंने मुझे हृदय से लगाया। सभी ने मिलकर विचार किया कि मुझे उस कुण्ड का रस पीना चाहिए जिसके पीने से एक हजार हाथी का वल मिल जाता था। उनकी आज्ञा पाकर मैंने आठ कुण्डों का रस पी लिया। फिर मेरे शरीर में दस हजार हाथियों का वल आ गया। उनकी सहायता से मैं हस्तिनापुर लौटा जहां मेरी माता कुन्ती और अन्य चार भाई मेरे लिए चिन्तित बैठे थे।

मित्र : इसीलिए कहा है—"जाको राखे सांइयां, मारि सकै न कोइ।" तुमने वहां से लौटकर सवसे वदला लिया होगा ?

भीमसेन : नहीं। मेरे भाई युधिष्ठिर ने सारी घटना सुनने के वाद मुझसे कहा—भैया भीम ! तुम अब चुप हो जाओ। तुम्हारे साथ जो वर्ताव हुआ, वह कहीं किसी प्रकार न कहना। तुम्हारा वल एक दिन तुम्हें विजयी वनाएगा।

दुर्योधन ने पुनः मुझे कालकूट नामक विष दिया। लेकिन मैं उसे भी पचा गया।

मित्र : लेकिन तुम इतना विषैला पदार्थ पचा कैसे जाते थे ?

भीमसेन : मेरे पेट में वृक नाम की अग्नि थी। अतः कोई भी विष वहां पच जाता था।

मित्र : तुम लोग विद्याध्ययन नहीं करते थे ?

भीमसेन : हमने आचार्य द्रोण के संरक्षण में समस्त शस्त्र एवं शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया। वहां ढाल, तलवार, धनुष-वाण एवं गदा चलाने की शिक्षा मिली। मैंने गदा चलाने में कुशलता प्राप्त की। मैं हाथी घोड़ों पर सवारहोकर भी गदा चला लेता था। गदा चलाने में कोई मुझसे आगे नहीं निकलता था। इसी गदा के साथ मैंने जीवन में वड़े-वड़े पराक्रम दिखाए। महाभारत की लड़ाई में भी मेरा यही अस्त्र था।

मित्र : धन्य हो। तुम शरीर से नहीं वरन बुद्धि एवं कला से भी वीर थे।

श्रवण कुमार

राजा दशरथ : तुम कौन हो कुमार ? मेरी भूल से तुम्हें बाण लग गया।

श्रवण कुमार : मैं श्रवण हूं। मैं अपने अंधे माता-पिता की अकेली संतान हूं। इस संसार में मेरे सिवाय उनका और कोई नहीं है। हाय, अब उनकी देखभाल कौन करेगा ?

राजा दशरथ : उनकी देखभाल मैं करूंगा, वत्स। बताओ वे हैं कहां ?

श्रवण कुमार : वे सामने के घने पीपल वृक्ष की छाया में बैठे हैं। वे अत्यन्त प्यासे हैं। मुझे मेरे हाल पर छोड़कर पहले उन्हें पानी पिला दें। वे प्यास से तड़प रहे होंगे। मैं नदी से पानी ही लेने आया था। घड़े में पानी भर रहा था कि यह तीक्ष्ण बाण मेरे कलेजे में आ घुसा। मैं तो अब चंद क्षणों का मेहमान हूं।

राजा दशरथ : हां श्रवण ! घड़े में पानी भरते समय जो भू....भू....भू....की आवाज हुई तो मैंने समझा कि कोई जंगली हाथी पानी पी रहा है। मैं शब्दभेदी बाण चलाने में सिद्धहस्त हूं। बस उस हाथी का आखेट करने के लिए बाण चला दिया। जिससे अनजाने ही यह भारी अनर्थ हो गया। मैं अभी तुम्हारे मां-बाप को पानी पिला आता हूं। लेकिन उससे पहले तुम्हारे बारे में कुछ और संक्षेप में जान लेना चाहता हूं।

श्रवण कुमार : मैं अपने माता-पिता को ही आराध्य मानता रहा हूं। अपने अंधे वृद्ध माता-पिता का प्रत्येक कार्य बड़े उत्साह, तत्परता और अग्रता से करता आया हूं। वृद्धावस्था का ठिकाना क्या कि शरीर कब गिर जाए। अतः उनके मन में तीर्थयात्रा की इच्छा हुई। मैं उन्हें कावंड़ में बैठाकर तीर्थ यात्रा के लिए निकल पड़ा। उन्हें कंधे पर उठाए, स्नान, भोजन आदि कराना तथा जल पिलाने से लेकर उनकी छोटी-बड़ी शारीरिक आवश्यकताएं पूरी करता आया हूं। तीर्थ यात्री की वजह से लोग रास्ते में जो कुछ खाने-पीने को देते थे। मैं उसे पहले माता-पिता को खिलाता फिर बचा हुआ स्वयं खाता था। जिस दिन कुछ न मिले कंद-मूल को धोकर या भूनकर उनका भोजन बनाता। सुबह उनके उठने से पहले उठ जाता था तथा रात में उनके सो जाने पर उनके चरण दबाने के बाद खुद सोता था। अन्य दिन की तरह आज भी तड़के उठकर यात्रा पर निकल गया ताकि दोपहर होने से पहले अधिक से अधिक रास्ता तय कर लें। रास्ते में उन्हें जोरों से प्यास लग गई। सरयू में उनके लिए पानी लेने आया था। उफ, अब तो प्राण निकलने वाले ही हैं।

राजा दशरथ : धन्य हो श्रवण कुमार ! माता-पिता की तुम्हारी भक्ति अपूर्व है। जंगली हाथी के भ्रम में मैंने तुम्हारी हत्या कर दी। युद्ध के अतिरिक्त हाथी का भी वध शास्त्र-वर्जित है। हाथी समझकर भी मुझे बाण नहीं छोड़ना चाहिए था। यह जो धर्म में प्रमाद हुआ उसी से अनजाने में यह घोर अनर्थ हुआ और मैं ब्रह्म हत्या का अक्षम्य अपराधी हुआ ।



श्रवण कुमार : महाराज ! आप चिन्ता न करें। आपसे अनजाने में यह घटना हुई है। यही नहीं, मैं ब्राह्मण नहीं, वैश्य हूं। इसलिए आपको ब्रह्म हत्या नहीं लगेगी। लेकिन अब और अधिक विलम्ब न करें, मेरे माता-पिता प्यास से छटपटा रहे होंगे। जरा यह वाण निकाल दें, उ...फ्...

राजा दशरथ : मेरे वाण निकालते ही श्रवण की इहलीला समाप्त हो गई। मैं जल लेकर अंधे दम्पति के पास गया तथा उन्हें यह दु:संवाद देना पड़ा। सुनते ही दम्पति चीत्कार उठे। फिर उन्होंने मृत पुत्र के पास ले चलने को कहा। उनको श्रवण के शव के पास बैठाकर लकड़ियां चुनकर चिता बना दी। पुत्र की देह के साथ-साथ दोनों वृद्ध भी चिता में बैठ गए। अंत समय में उन्होंने मुझे शाप दिया कि हमारे समान तुम भी पुत्रवियोग में ही मरोगे। उनका शाप तो खाली नहीं जाएगा। उसके बाद मातृ-पितृ भक्ति का प्रताप मैंने प्रत्यक्ष अपनी आंखों से देखा। मैंने देखा कि श्रवण कुमार दिव्य देह धारण कर भगवद्धाम जा रहा है तथा उसके माता-पिता भी उसके साथ थे। धन्य है श्रवण ! धन्य है। उसकी कहानी अमर रहेगी।

एकलव्य

निषादराज : बेटा ! तेरे दाहिने हाथ का अंगूठा, क्या हुआ ? तुमने इतना भयंकर रूप क्यों बनाया है ? क्या द्रोणाचार्य ने तुम्हें शिष्य नहीं बनाया ?

एकलव्य : पिताजी ! आप शांत हों। मैं सारी कहानी सुनाता हूं।

मैं एक दिन शिष्य बनने के लिए गुरुदेव द्रोणाचार्य के पास गया। लेकिन उन्होंने न तो मुझे अपना शिष्य ही बनाया और न ही अपने आश्रम में जगह दी। पर मैं उन्हें अपना गुरु बनाने का दृढ़ निश्चय कर चुका था।

मैं वहां से घर नहीं लौटा। धनुष विद्या मुझे सीखनी ही थी। गुरुदेव की एक मिट्टी की प्रतिमा बना ली। उसी मूर्ति के आगे धनुष-बाण चलाने लगा।

पहले आंखें बंद कर गुरुदेव का ध्यान करता और बाण चलाता। थोड़े ही दिन में मेरा बाण निशाने पर लगने लगा। उन दिनों मैं आश्रम के सारे नियमों का पालन करता था। जंगल में बिल्कुल अकेला था। जंगली पशु भी आते-जाते रहते थे। पर मैं डरता नहीं था। मुझे ऐसा लगता जैसे गुरुदेव मेरे साथ हैं।

मैं एक दिन धनुष-बाण चलाने का अभ्यास कर रहा था। मेरे शरीर का रंग काला था। और अंगों में मैल जम गया था। मैंने काला मृग-चर्म पहन रखा था। मेरे समीप एक कुत्ता आया और जोर-जोर से भौंकने लगा। मैंने उसका मुंह सात बाणों से बेध दिया।

वह पांडवों का कुत्ता था। पांडव एवं कौरव उन दिनों अपने गुरु द्रोणाचार्य से विद्याध्ययन कर रहे थे।

पांडव अपने कुत्ते के मुंह में सात बाण देख कर बड़े चकित हुए। जंगल में घूमते हुए मेरे पास पहुंचे। मुझे देखकर उन्हें विश्वास नहीं हुआ कि वे बाण भी चला सकता था।

अर्जुन : तुम कौन हो ? तुमने धनुष विद्या किससे सीखी है ?

एकलव्य : मैं एकलव्य हूं। निषादराज का पुत्र। मेरे गुरुदेव द्रोणाचार्य हैं।

गुरुदेव भी वहीं आ गए थे। अर्जुन ने उनसे पूछा—गुरुदेव आपने इस एकलव्य को मुझसे भी होशियार बना दिया ? आप इसके गुरु कब बने ? इसकी शिक्षा कब होती है ?

मैं बहुत खुश हुआ और गुरुदेव के पांव पर गिर गया।

द्रोणाचार्य : एकलव्य ! कौन है तुम्हारा गुरु ? मैंने कब तुम्हें शिष्य बनाया ?



एकलव्य : गुरुदेव ! आपने मुझे शिष्य बनाने से अस्वीकार कर दिया था। अत : मैंने आपकी मूर्ति बनाकर उसके सामने साधना की। गुरुदेव ! आपकी महिमा धन्य है। मुझे आशीर्वाद दीजिए।

मुझे आशा थी, गुरुदेव बहुत खुश होंगे। मेरी बात सुन कर वे एक क्षण रुक कर बोले, "एकलव्य, तुम्हें गुरुदक्षिणा देनी होगी।"

एकलव्य : मैं धन्य हुआ। मैं गुरुदक्षिणा अवश्य दूंगा। आज्ञा दीजिए।

द्रोणाचार्य : गुरुदक्षिणा में तुम दाहिने हाथ का अंगूठा दे दो।

मैं चकित रह गया। जल्द ही अंगूठा काट कर उन्हें दे दिया। सभी शिष्य कभी मुझे और कभी गुरुदेव की ओर देख रहे थे। गुरुदेव को भी आश्चर्य हुआ।

निषादराज : हाय मेरे पुत्र ! तुम्हारी साधना भी बेकार गई ? अब तुम बाण भी नहीं चला सकते ? कैसे निष्ठुर निकले तुम्हारे गुरुदेव।

एकलव्य : पिताजी। गुरुदेव को दोष न दें। गुरु को कलंकित न करें। मैं धनुष-बाण चला सकता हूं। मेरी विद्या में कोई कमी नहीं आई। गुरु के दर्शन से मेरी क्षमता दुगुनी हो गई। गुरुदेव ने इशारे से ही मुझे तर्जनी एवं मध्यमा अंगुलियों से बाण चलाना सिखा दिया।

निषादराज : धन्य हो पुत्र ! तुम्हारे जैसा पुत्र पा कर आज मेरा जीवन धन्य हुआ। ईश्वर करे पृथ्वी पर ऐसे ही गुरुभक्त पैदा होते रहें।

ध्रुव

सुनीति : बेटा ध्रुव तुम एकाएक जंगल में क्यों चले गए ? तुमने इतनी घोर तपस्या कैसे की ? मुझे सारा वृतांत सुनाओ।

ध्रुव : मां शायद तुम्हें वह दिन याद होगा जब मैं राजसभा में ही पिता राजा उत्तानपाद जी की गोद में बैठा था। वहां मेरी दूसरी मां सुरुचि ने मुझे देख लिया। उन्होंने मुझे पिता की गोद से झटक कर नीचे गिरा दिया। माता सुरुचि ने कहा था-- "तुम इस गोद के योग्य नहीं हो। जाकर भगवान की तपस्या करो। फिर मेरे गर्भ से जन्म लेकर इस गोद–इस सिंहासन पर बैठ सकोगे।" पिताजी ने भी मुझे गोद में नहीं बैठाया। मैं उनके प्यार–उनकी गोद के लिए तरस रहा था।

मैंने रोते हुए तुमसे पूछा था–मां, "जब तुम दोनों ही मेरी माता हो तब पिताजी माता सुरुचि से अधिक प्यार क्यों करते हैं ? हम दोनों ही राजकुमार हैं फिर उत्तम को राजा की गोद मिलती है, मुझे क्यों नहीं ?"

तुमने ही मुझे कहा था–"उन्होंने पूर्व जन्म में भगवान विष्णु की आराधना की, तपस्या की इसलिए उन्हें वे सुख प्राप्त हैं, राजा की गोद प्राप्त है। हमने शायद तपस्या नहीं की। भगवान विष्णु की आराधना से ही सब कुछ प्राप्त होता है।"

मां, मैं समझता था कि पिताजी से बढ़कर इस संसार में और कोई नहीं। इसलिए मैं उन्हें प्रसन्न कर उन्हें प्राप्त करना चाहता था। लेकिन तुमने मेरी आंखें खोल दीं। मैंने संकल्प किया कि मैं भगवान विष्णु की आराधना कर उन्हें प्राप्त करूंगा। तुमने मुझे छोटी उम्र में जंगल जाने की अनुमति नहीं दी। तुमने मुझसे कहा–"बेटा अभी तुम्हारी उम्र खेलने-खाने की है। तपस्या करने की नहीं। यहीं रहकर दूसरों की भलाई करो, दान करो, बैरियों का भी उपकार करो, तुम पर भगवान प्रसन्न हो जाएंगे।"

लेकिन मेरे मन में भगवान की लगन लग गई थी। मैं जंगल में जा कर तपस्या करने लगा। मैं जंगल में बैठे आंखें बन्द कर केवल एक मंत्र का जाप करता था –ओउम् नमो भगवते वासुदेवाय।

मैं वहां कुछ दिन फल खाकर रहा। फिर फल की मात्रा भी घटाने लगा। कुछ दिनों तक केवल पानी पीकर रहा। बाद में केवल हवा पीकर रहने लगा। मुझे उन दिनों भूख-प्यास, वर्षा-घाम का अनुभव नहीं होता था।

एक दिन भगवान विष्णु गरुड़ पर सवार होकर मेरे सामने आए। मैंने आंखें खोलीं और साक्षात भगवान को सामने देखकर हर्ष से रो पड़ा। भगवान ने कहा– "ध्रुव मैं तुम पर प्रसन्न हूं। बोलो क्या चाहते हो ?"

मैंने कहा–"मैं आपकी स्तुति करना चाहता हूं। मुझे शक्ति दीजिए।"

भगवान ने कहा–"एवमस्तु ! लेकिन ध्रुव। तुम्हें राजा बनना पड़ेगा। तुम्हें सांसारिकता से भागना नहीं होगा। तुम राजा बनकर छत्तीस हजार वर्षों तक राज्य करो। तत्पश्चात तुम्हारे लिए विमान आएगा। उस पर चढ़कर तुम



ग्रह नक्षत्रों से ऊपर ध्रुव स्थान पर जाओगे और वहां अनंत काल तक रहोगे। अब तुम माता-पिता से मिलने जाओ।" मुझे उनकी आज्ञा से यहां लौटना पड़ा है, मां। यहां आने पर मेरे पिताजी और माता सुरुचि ने भी प्यार किया है।

सुनीति : मेरा बेटा ! तुम्हारी कथा सुनकर मुझे दुःख और सुख दोनों का अनुभव हो रहा है। तुम्हारी तपस्या का वर्णन सुनकर बड़ा दुःख हुआ परन्तु यह जानकर कि तुम्हें भगवान के दर्शन हुए मेरा दिल गद्‌गद् हो उठा।

ध्रुव : मां ! मुझे पिताजी युवराज बना रहे हैं।

सुनीति : बेटा ! पिताजी और माता सुरुचि जी की आज्ञा का पालन करो, देश धर्म की रक्षा में लग जाओ। प्रजा भी भगवान का ही रूप है। उसकी सेवा करो। सेवा के लिए ही भगवान ने तुम्हें यहां भेजा है।

ध्रुव : जो आज्ञा मां। तुम्हारे राह दिखाने से मुझे भगवान मिले। मैं तुम्हारी आज्ञा पालन कर राज कार्य में भी यश कमाऊंगा।

सुनीति : अनादिकाल तक तुम विश्व में अमर रहोगे।

प्रह्लाद

मित्र : प्रहलाद ! सुना तुम्हारे पिता हिरण्यकशिपु ने तुम्हें जला दिया था । तुम फिर बच कैसे गए ?

प्रह्लाद : मित्र ! साक्षात भगवान जिसके साथ हों, उसका कोई क्या बिगाड़ सकता है ? मेरे पिता ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते थे । उन्हें ईश्वर द्वारा प्राप्त वरदान का घमंड हो गया था । इसका भी कारण था । मेरे चाचा को भगवान ने मार दिया था । इसके बाद मेरे पिताजी ने घोर तपस्या कर भगवान से यह वर प्राप्त किया कि उन्हें कोई भी नहीं मार सकता । उन्हें न कोई दिन में मार सकता था, न रात में । न कोई नर, न राक्षस, न पशु । न कोई आकाश में मार सकता था, न पृथ्वी पर । वरदान प्राप्ति के बाद वे नम्र न हुए वरन अधिक उत्पात मचाने लगे । उन्होंने अपने को ही ईश्वर मान लिया । उनकी प्रजा भी उन्हें ईश्वर मानने के लिए बाध्य थी ।

मुझे शुरू से ही भगवान की सत्ता में विश्वास था । मैं उन्हें कहता था, "पिताजी ! ईश्वर सब जगह है । नित्य है । ईश्वर की सत्ता का ज्ञान ही सब कुछ है । बाकी संसार मिथ्या है ।"

वे मुझ पर विगड़ जाते । मैं सदा ईश्वर का जाप करता । वे बहुत गुस्सा होते । मैं शांत चित्त से उनकी शांति की कामना करता था ।

उन्होंने मुझ पर जोर डाला कि मैं ईश्वर को भूल जाऊं और अपने पिता को ही सर्वशक्तिमान मानूं ।

मित्र : तुमने पिता की आज्ञा मान क्यों न ली ?

प्रह्लाद : मेरे पिता गलत रास्ते पर थे । आत्माभिमान से भरे थे । वे अंधकार में थे । मैं जान-बूझकर प्रकाश से अंधकार में कैसे जाता ?

मित्र : पिता ने तुम्हें पढ़ाया-लिखाया नहीं ?

प्रह्लाद : उन्होंने पढ़ाने की कोशिश की । शिक्षक मुझे क, ख, ग, घ पढ़ाते थे लेकिन मुझे सबमें ईश्वर ही नजर आता था । मैं क्या करता ? मेरे पिताजी ने मेरे शिक्षकों को भी दंड दिया । उनकी शिकायत थी कि शिक्षक ने ही मुझे यह सब पढ़ाया था । मेरे न मानने पर उन्होंने मेरी पढ़ाई बन्द कर दी ।

मुझे घर में बन्द कर दिया जाता था । मैं अकेले रहता था । खाना भी नहीं दिया जाता था । कई दिनों तक मैं अकेले अंधेरी कोठरी में बन्द रहता ।



मित्र : (डरकर) तुम्हें डर नहीं लगता था ?

प्रहलाद : नहीं मित्र ? ईश्वर सदा मेरे साथ रहते थे । मैं आंख बन्द किए उनका ध्यान करता था । मुझे भूख-प्यास नहीं सताती थी । ईश्वर के भजन में असीम आनन्द का अनुभव करता था । मेरे पिता जी मुझसे पूछते – "अब कहो ! अब तुम्हें तुम्हारा ईश्वर नहीं बचा रहा ?"

मैं कहता, "पिताजी ! आप चिन्तित न हों । भगवान मेरे साथ है ।"

वे अत्यंत क्रुद्ध हो गए । मुझे घोर कष्ट दिया । अंगों पर शस्त्र से प्रहार करवाया । मेरे अंग में कोई घाव नहीं हुआ । वे स्वयं ही एक बार तलवार लेकर आए और मुझे काटना चाहा । तलवार की धार मुड़ गई लेकिन मेरे शरीर में कुछ न हुआ । ईश्वर मेरे साथ थे ।

वड़े-बड़े हिंसक पशुओं के बीच मुझे छोड़ दिया गया । लेकिन उन्होंने भी मेरा कुछ न विगाड़ा ।

एक दिन मैं ध्यानमग्न था । मेरे सामने बड़ा-सा विषैला सांप आया । मुझे किसी ने ध्यान से विचलित करा दिया । लेकिन सांप ने मेरा कुछ न विगाड़ा ।

अंत में मेरे पिता ने मुझे जला देने की सोची । मेरी फूफी होलिका थी । उनको भगवान से एक चादर वरदान में मिली थी । उनको यह वरदान था कि चादर ओढ़ लेने पर अग्नि उन्हें जला नहीं सकती थी । फूफी के साथ मेरे पिता जी ने अग्नि के ढेर पर मुझे बैठा दिया । मैं फूफी की गोद में बैठ भगवान का ध्यान करने लगा । ईश्वर भक्ति के कारण ही होलिका की चादर उड़ गई । वह जल गई और मैं वाल-वाल वच गया । देवताओंने ऊपर से ही पुष्प-वृष्टि की । मैंने ध्यान तोड़ा । देखा, सामने सारी प्रजा मेरी जय-जयकार कर रही थी । मेरी मां ने विलखते हुए मुझे गोद में उठा लिया ।

मित्र : अव तो तुम्हारे पिता तुम्हारा कुछ न विगाड़ सकेंगे ।

प्रह्लाद : अव मेरे पिता हैं ही कहां ?

मित्र : क्यों ! क्या हुआ उन्हें ? उन्हें तो कोई मार भी नहीं सकता था ?

प्रह्लाद : ईश्वर की महिमा विचित्र है । मेरे अग्नि से सकुशल निकल आने पर मेरे पिता जी और भी अधिक क्रोधित हो गए । उन्होंने मुझे एक खम्भे से कसकर बांध दिया । स्वयं तलवार ले मारने दौड़े । मैंने 'जगदीश' की रट लगा दी । खम्भा कट गया और भगवान ने नरसिंह का अवतार ले लिया । उनका सिर सिंह का था और धड़ मनुष्य का । वे मेरे पिता को पकड़ कर चौखट पर बैठ गए । अपने नाखूनों से ही उनका पेट चीर कर उनको मार दिया । मेरे पिता मरते समय खुश थे । उन्हें भगवान के हाथों मरने से संतोष मिला ।

मित्र : तुम्हारा नाम पृथ्वी पर सदा अमर रहेगा । तुम्हारी याद में युग-युग तक भगवान-भक्त होलिका दहन करेंगे । होलिका दहन से तात्पर्य होगा—समाज में व्याप्त बुराइयों का अंत एवं सत्य की विजय ।

लव-कुश

लव : मैं लव हूं।

कुश : मैं कुश हूं।

दोनों : हम लव कुश हैं। हम देवी सीता के बेटे हैं।

हमारा नाम लोग ऐसे लेते हैं जैसे हम दो नहीं एक हों। हम एक हैं भी। वचपन से ही साथ-साथ खेलना, खाना-पीना, उठना-बैठना रहा है हमारा।

हम दोनों भाई महर्षि वाल्मिकि के आश्रम में अपनी मां के साथ रहते थे। वासंती मेरी मां की सखी थीं। दोनों हमें प्यार करतीं, खिलाती-पिलाती एवं वहुत सारी कहानियां सुनातीं।

महर्षि बाल्मिकि का भी हम पर वड़ा स्नेह था। वे हमें वचपन से ही लकड़ियों के छोटे-छोटे धनुष-वाण खेलने के लिए देते। हम उनसे खेला करते। एक तोड़ते फिर नया मिल जाता।

धीरे-धीरे गुरुदेव ने हमें धनुष पर बाण चढ़ाना सिखाया। मेरी माता बैठी देखती रहतीं। वड़ी खुश होतीं। बाण निशाने पर लगता। गुरुदेव वड़े खुश होते। हमें गोद में उठाए मां के पास ले आते। मां से कहते, "देखो सीते, तुम्हारे दोनों पुत्र वीर योद्धा वनेंगे।" मां प्यार करतीं। हम दोनों एक साथ उनकी गोद में बैठ जाते।

गुरुदेव धनुष-बाण की लम्वाई-चौड़ाई को हमारे वाजुओं की लम्वाई के अनुसार वढ़ाते गए।

उन दिनों गुरुदेव 'रामायण' नामक महाकाव्य लिख रहे थे। हम उनकी दोनों ओर बैठ रामायण की पंक्तियां दुहराते। थोड़े ही दिनों में हमने पूरी रामायण कंठाग्र कर ली। हमारी माता हमसे रामायण सुनती। हमें आशीर्वाद देतीं।

हमारा आश्रम नदी के किनारे था। आश्रम के चारों ओर फल-फूल लगे थे। हम फल तोड़ते और खाते। आश्रम के आस-पास दूसरे ऋषि-मुनियों के आश्रम थे। हम उनके वच्चों के साथ खेलते। वे वच्चे भी धनुष-वाण चलाना सीखते। हम सभी से आगे रहते।

एक वार गुरुदेव हम दोनों भाइयों के साथ अयोध्या गए। वहां के राजा रामचन्द्र ने कोई यज्ञ किया था। हमने वहां रामायण गाकर सुनाई। राजा वड़े खुश हुए। हमें वहुत प्यार किया। आशीर्वाद दिया।



एक दिन हम दोनों बागीचे में धनुष-बाण चला रहे थे। हमने एक घोड़ा देखा। घोड़ा बड़ा तगड़ा था। हमने उसे पकड़ लिया।

लव : घोड़ा मैंने पकड़ा था।

कुश : हां-हां ! तुमने ही पकड़ा था। मैंने तुम्हारी मदद की थी।

लव : तुम तो मां को बुला लाए थे।

कुश : हां! तुमने मां के कहने से भी घोड़ा नहीं छोड़ा।

लव : क्यों छोड़ता ! मैं उस पर चढ़ना चाहता था।

एक सैनिक घोड़े के पीछे भागता आया। उसने हमें बताया कि वह घोड़ा राजा रामचन्द्र का था। हमने उसके कहने से भी घोड़ा नहीं छोड़ा। उसने कहा – बालको तुम्हें युद्ध करना होगा।

हमने कहा : करेंगे। युद्ध से हम नहीं डरते।

अहा कितना सुन्दर घोड़ा था। वैसा ही मज़बूत। हम लोग उस पर चढ़कर उसे दौड़ाते रहे। राजा के सिपाही एवं उनके भाई घोड़ा मांगने आए। हम लोगों ने नहीं दिया। लड़ाई प्रारंभ हुई। दोनों ओर से विभिन्न प्रकार के बाण चलने लगे। शत्रुघ्न घायल हुए।

अन्त में राजा रामचन्द्र स्वयं आए। हमने उन पर बाण चलाने के लिए धनुष उठाया ही था कि हमारी माता व गुरुदेव दौड़कर आए। गुरुदेव ने कहा "लव कुश ! बाण न चलाना। ये तुम्हारे पिता हैं।" हम दोनों ने कहा, "हमारे पिता ! अयोध्या के राजा रामचन्द्र हमारे पिता हैं ? गुरुदेव आपने पहले कभी नहीं बताया ? मां ! आपने भी नहीं बताया।"

लव : भैया कुश ! मां ने कहा था कि हमारे पिता भगवान हैं।

कुश : हां भैया ! यह चक्कर मेरी समझ में नहीं आता।

मां : रुको बेटा ! बाण मत चलाओ। मैं सारा चक्कर समझा दूंगी। स्वामी मुझे माफ करें। लव-कुश आपके पुत्र हैं। इनकी गलती क्षमा करें।

गुरुदेव ने हमें आज्ञा दी और हमने पिता के चरणों में प्रणाम किया।

वहीं धरती फटने की आवाज हुई। मेरी मां दोनों हाथ जोड़े ही धरती के अन्दर चली गईं। वह धरती की बेटी थीं। पिता जी के साथ हम दोनों अयोध्या आ गए।

30-M/J(N)358MofI&B—5,000—15-7-81—GIPS

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

